शतपथ के दश पथ

[भाग प्रथम]

डा. वेदपाल सुनीथ

प्राच्यविद्यानुसन्धान केन्द्र
तिलोरा (पुष्कर राज.)

प्राच्यविद्यानुसन्धान केन्द्र के प्रकाशन का पञ्चमप्रसून

शतपथ के दश पथ

(शतपथ के दश सन्दर्भों का व्याख्यान)

(भाग प्रथम)

लेखक

डा: वेदपाल सुनीथ

प्रकाशक

प्राच्यविद्यानुसन्धान केन्द्र

पाणिनिधाम, तिलोरा

प्रकाशक
प्राच्यविद्यानुसन्धान केन्द्र
(पाणिनिधाम तिलोरा)

प्राप्ति स्थान
(१) पाणिनिधाम तिलोरा
डाकघर : तिलोरा (पुष्कर क्षेत्र)
अजमेर (राजस्थान)-३०५०२२

(२) श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट
बहालगढ़
सोनीपत (हरियाणा)-१३१०२१

संस्करण : प्रथम, २१००
संवत् २०४८ ई., सन् १९९१

मूल्य : १५ रु० अजिल्द
२० रु० सजिल्द

मुद्रक : सतीशचन्द्र शुक्ल
प्रबन्धक, वैदिक यंत्रालय, अजमेर

प्रकाशकीयम्

बड़े बड़े धुरन्धर विद्वान् भी शतपथ ब्राह्मण जैसे ग्रन्थ के स्वाध्याय में शिथिल देखे जाते हैं। जटिल याज्ञिक प्रक्रियाओं में प्रोक्त यह ग्रन्थ सम्प्रदायोच्छेद के कारण सचमुच अतिदुर्बोध बन गया है। ऋषि दयानन्द ने इस ब्राह्मण के प्रमाण वेद भाष्यादि ग्रन्थों में देकर इसकी महत्ता को मुक्त कण्ठ से स्वीकार किया है। इतना ही नहीं ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में इस ब्राह्मण को ऋषि ने सत्य ग्रन्थ घोषित किया है। कुछ अनधिकृत विद्वानों ने प्रतिष्ठा लाभ के मोह से ग्रस्त होकर इस ग्रन्थ के अन्यथा भाष्य व अनुवाद कर डाले जिससे इस ऋषि प्रोक्त ग्रन्थ का तात्पर्य ही दूषित कर दिया गया।

श्री वेदपाल गत लगभग २० वर्ष से इस महान् ग्रन्थ के तात्पर्य का अनुसन्धान करने में जुटे हैं। शतपथ जैसे विशाल ग्रन्थ का श्री वेदपालजी ने अब तक बहुश्रम के साथ २५ बार अनुशीलन किया है। इतना ही नहीं, उन्होंने पूर्व मीमांसा श्रौत सूत्र एवं अन्य ब्राह्मण वाङ्मय का भी गहनाध्ययन किया है। शतपथ के प्रति इनकी इस दृढभक्ति को देख कर मेरा हृदय गद्गद् हो जाता है तथा सहसा मेरे हृदय से इनके लिये शतपथी यह पदवी उदीर्ण होती है। सुना है उत्कलप्रान्त में कुछ शतपथी ब्राह्मण आज भी चले आ रहे हैं पर आज उन्हें शतपथ का कुछ भी पता नहीं। वास्तव में श्री डा. वेदपालजी ही सच्चे शतपथी ब्राह्मण हैं।

उन्होंने शतपथ के कुछ प्रेरक सन्दर्भों की मनोहारी नाना ऐतिहासिक घटनाओं से कृतरोचिष्णु एवं प्रभावी व्याख्या लिखी है। निश्चयेन शतपथ के इस अधिकारी विद्वान् की लेखनी से प्रसूत हुई यह शतपथधारा अवश्य जनमानस को पवित्र आर्षज्ञान से आप्लावित करेगी।

इस प्रतिभावान् नवयुवक विद्वान् पर प्राच्यविद्यानुसन्धान केन्द्र को गर्व है। मेरी वेदभक्त तथा ऋषिभक्त श्रेष्ठिओं से हार्दिक प्रार्थना है कि वे ऐसे विद्वान् की ज्ञानसाधना में कुछ भी कमी न रहने दें जिससे ये ऋषियों के पवित्र विज्ञान को दुनिया के सामने अधिक से अधिक प्रकट कर सकें। प्रिय वेदपालजी! मुझ वृद्ध ब्राह्मण का स्नेहपूर्ण आशीर्वाद आपके साथ है।

प्रभु आप को दीर्घायुष्य एवं उत्तम स्वास्थ्य प्रदान करे यही मेरी मंगलमयी कामना है।

अन्त में मैं श्री चौ. हनुमान् प्रसादजी को भी साधुवाद देता हूँ जिन्होंने अपनी धर्मवत्सला गृहिणी की पुण्य स्मृति में शतपथ के इन दश पथों के प्रकाशन में सहयोग देकर केन्द्र को धन चिन्ता से मुक्त कर दिया। वैदिक यन्त्रालय के प्रबन्धक तथा उनके कर्मचारियों को भी साधुवाद देता हूँ जिन्होंने बड़ी तत्परता से इस ग्रन्थ को शुद्ध एवं सुन्दर रूप में मुद्रित करने का प्रशंसनीय उद्योग किया।

विदुषामनुचर
आचार्य विशुद्धानन्द
अध्यक्ष
प्राच्यविद्यानुसन्धान केन्द्र

जिनकी पुण्यस्मृति में श्री चौधरी चेरिटेबल फाउण्डेशन
यह ग्रन्थ लोकार्पण करता है—



स्वर्गीया श्रीमती रतनदेवी जी चौधरी

जन्म ५-८-१९२९

स्वर्गवास ७-१-१९८८

वन्दनम्

सर्गारम्भे मनुष्याणां कल्याणाय दयानिधिः ।
प्राकाशयद्धि यो वेदान् तं वन्दे परमेश्वरम् ॥ १ ॥
यागानां वास्तवं येन श्रौतानामार्ष मेधया ।
विवृत्तं याज्ञवल्क्येन श्रद्धया तं नमाम्यहम् ॥ २ ॥
तपोविज्ञानपूतात्मा वेदार्थानां प्रकाशकः ।
प्रणूयते दयानन्द ऋषिकोटिमुपागतः ॥ ३ ॥
प्रज्ञाबलेन सम्प्राप्य श्रौतमर्थमदात् पुनः ।
बुद्धदेवं गुरुं वन्दे मह्यं कारुण्यविग्रहम् ॥ ४ ॥
या हि स्नेहातिरेकेण शिक्षादानपुरस्सरम् ।
पालयति स्म माता मे तां नौमि सत्यवत्सलाम् ॥ ५ ॥
नादात् केवलं जन्म धर्ममपि त्वबोधयत् ।
तमहं पितरं वन्दे शक्मचन्द्रं* सुधार्मिकम् ॥ ६ ॥
सत्प्रेरणा प्रदातारं मम कृतेऽतिवत्सलम् ।
ओमानन्दं यतिं वन्दे तपसां देहरूपकम् ॥ ७ ॥
अध्याप्य शब्दशास्त्रं यः श्रुती सम्यगवेशयत् ।
विवेकानन्दमावन्दे कर्तारं तं कृपां पराम् ॥ ८ ॥
अध्यापिपद् यः शास्त्राणि न्यायादीन्यनुकम्पया ।
सुखदेवं हृदा वन्दे तन्तु दर्शनपारगम् ॥ ९ ॥
अहो यत्र तु ब्रह्मण्यं सम्प्रत्यपि विराजते ।
तं श्री मीमांसकं** वन्दे ममोत्प्रेरणस्रोतसम् ॥ १० ॥
विशुद्धानन्दमावन्दे सरस्वत्याः प्रियं सुतम् ।
सुरवाणी मुखे यस्यानायासं नरिनृत्यते ॥
दयानन्दस्य वृत्तार्थं प्रमाणत्वेन तिष्ठति ।
तं श्री भारतीयञ्चा,*** पिवन्दे करुणाकरम् ॥ ११ ॥

---

* हुकमचन्द्र इति तु अपभ्रंशः ।

** श्री पं. युधिष्ठिर मीमांसकम् ।

*** श्री डा. भवानीलाल भारतीयम्

प्रागवक्तव्य

वेद प्रभु की पवित्र वाणी है। कर्त्तव्य का बोध बिना वेदज्ञान के नहीं हो सकता। शतपथ के प्रवक्ता महर्षि याज्ञवल्क्य ने इस पवित्र ज्ञान का प्रकाश करने का उद्योग महाभारत युद्ध से भी पूर्व किया था। गृहस्थ के कार्यों में व्यापृत जन वेद के अनुशीलन में अधिक कृतकारी नहीं हो पाता। अतः ऋषियों ने मन्त्रार्थ को प्रत्यक्षरीति से प्रकट करने का रोचिष्णु उपाय किया। उन्होंने दैनिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक एवं वार्षिक यज्ञानुष्ठानों की विस्तृत विधियाँ कल्पित की। जिससे गृहस्थ याजक मन्त्रभावों का साक्षात्कार करके उन्हें आत्मगत करता रहे। साथ में घृतादि के होम से वायु एवं जलादि के शोधन का महत्त्वपूर्ण कार्य भी सम्पन्न हो सके।

महर्षि याज्ञवल्क्य ने शतपथ ब्राह्मण में इसी प्रतीकात्मक (Symbolical) याज्ञिक पद्धति का आश्रय लेकर यजुर्वेद के सहस्रों मन्त्रों के पवित्र ज्ञान का प्रकाश किया है। शतपथ ब्राह्मण में जिस उत्तम रीति से वेदार्थ का प्रकाशन किया है वैसा अन्यत्र देखने में नहीं आता। आचार्य श्री सायण ने भी पूर्ण विश्वस्त मन से लिखा है—

करामलकवद्यत्र परं तत्वं प्रकाशितम्।*

सामान्य पाठक तक भी यह पवित्र ज्ञान पहुँचे इसी भाव से मैंने शतपथ के २० सुभाषितों की संक्षिप्त व्याख्या प्रस्तुत की थी। वह व्याख्या पाठकों को बड़ी प्रभावी एवं रुचिकर लगी। कुछ पाठकों ने आग्रह किया कि कुछ अधिक विस्तृत व्याख्या लिखो। इसी आग्रह के अनुसार मैंने शतपथ के महत्त्वपूर्ण सन्दर्भों की व्याख्या लिखनी शुरू की तथा कुछ प्रबुद्ध पाठकों को सुनाई। उन्होंने इसे अत्यन्त उपयोगी बताया। प्राच्यविद्यानुसन्धान केन्द्र के महानिदेशक श्री आचार्य धर्मवीर जी ने जब इसे पढ़ा तो उन्होंने कहा इसे हमें शीघ्र प्रकाशित करना चाहिये। परन्तु धन की कुछ व्यवस्था नहीं बन रही थी। दिन प्रतिदिन कागजादि के मूल्य बढ़ रहे थे। मांगने की प्रवृत्ति मेरी नहीं। श्री आचार्यजी भी मांगने के कार्य के प्रति अतिसंकोची हैं। वस्तुतः हमारा विश्वास तप में है। सच्चे मन से की गई तपश्चर्या अवश्य सुफलदात्री होती है। यह भी हमारा विश्वास है।

* सायण मंगलाचरण ७ श्लोक

भगवान् ने स्वयं सहायता की—

हमने वैदिक यन्त्रालय के प्रबन्धक श्री सतीशजी शुक्ल से पुस्तक के प्रकाशन का निश्चय कर लिया। दस बारह हजार का व्यय श्री शुक्लजी ने बताया। इसी अन्तराल (बीच) में श्री स्वामी विजयानन्दजी ने अपने आर्ष कन्या गुरु चित्तौड़ के उत्सव में आने का आग्रह किया। मैं तथा श्री आचार्य धर्मवीरजी चित्तौड़ पहुंचे। यज्ञ के पश्चात् शतपथ के आधार पर मेरा कुछ व्याख्यान हुआ। यजमान थे उच्च शिक्षा प्राप्त श्री चौधरी हनुमान् प्रसादजी, जिन्होंने अपनी विद्या के बल पर अलभ्य खनिजों को भारत की धरती पर ही खोज निकाला था। इस कार्य से जहाँ देश को लाभ मिला वहां श्रीयुत चौधरीजी को भी पर्याप्त धनश्री का लाभ हुआ। आसुरी प्रवृत्ति के लोग जहाँ अपने धन का विनाश भोग-विलास में करते है वहाँ देव श्रेणी के जन धन का नियोजन पर-हित में करके पुण्य प्राप्त करते हैं। देवपथ का अनुसरण करते हुए श्री चौधरीजी ने अपने धन से धर्मार्थ ट्रस्ट की स्थापना की जिससे परोपकार के अनेकानेक उत्तम कार्य सम्पन्न हो रहे हैं। व्याख्यान के पश्चात् श्री चौधरीजी ने शतपथ के कार्य के लिए अपने ट्रस्ट से सहयोग देने का विचार प्रकट किया तथा ११ हजार रुपये तत्काल देने की घोषणा कराई। उदयपुर के आर्य बन्धुओं तथा श्री चौधरीजी ने उत्सव के पश्चात् उदयपुर पधारने का आग्रह किया। मैं तथा आचार्यजी उदयपुर गये। श्री चौधरीजी ने मुझे अलग बुलाकर पूछा वेदपालजी आप गृहस्थ हैं, कोई आवश्यकता हो तो बताओ। मैंने उत्तर दिया—मैंने ब्राह्मण की दीक्षा ली है। ब्राह्मण का पहला कर्त्तव्य है—तप, अपरिग्रह। अतः मुझे कुछ नहीं चाहिये। हां कुछ ग्रन्थों तथा उनके रखने के लिए एक अलमारी की आवश्यकता पाणिनिधाम को अवश्य है। श्री चौधरीजी गये तथा पाँच हजार रुपये लाकर मुझे दे दिये और बोले—वेदपाल जी आप धन की चिन्ता न करना, आप तो ऋषियों के पवित्र ज्ञान के प्रकाशन कार्य में लगे रहो। धन्य हैं ऐसे पुण्यश्री से सम्पन्न देवपुरुष। धन्य है इनका पुण्य हेतुक जीवन। इस प्रकार ऋषियों का यह पवित्र ज्ञान प्रकाश श्री चौधरीजी की अनुकम्पा से सहस्रों जनों तक पहुंचने जा रहा है।

हमारा विचार इस प्रकार के सौ सन्दर्भों के व्याख्यान लिखने का है। इस प्रकार यह व्याख्यानमाला दस भागों में पूर्ण होगी। इस व्याख्यानमाला से सामान्य पठित जन भी ऋषि प्रज्ञा से प्रकाशित मन्त्रभावों का सहजतया ग्रहण कर सकेंगे।

मेरे गुरुवर्य स्वामी समर्पणानन्दजी (पं. बुद्धदेव) ने शतपथ ब्राह्मण के भाष्य का कार्य प्रारम्भ किया था। वह कार्य दुर्भाग्य से कुछ हो ही पाया था कि उनका देहावसान हो गया। शतपथ ब्राह्मण अति विशाल तथा सूक्ष्म वैदिक विज्ञान का प्रकाशक ग्रन्थरत्न है। इसको समग्रभाव से समझ पाना कोई सहज कार्य नहीं। महाप्रज्ञ गुरुवर्य के अतिरिक्त आर्यसमाज में कोई इस महान् ग्रन्थ को छूने का साहस नहीं कर सका। पौराणिक जगत् में भी पं. मधुसूदन ओझा के शिष्य श्री पं. मोतीलाल शर्मा ने साहस किया पर उनका कार्य भी पूर्ण एवं समग्र विज्ञान का प्रकाशक नहीं है।

मैं गुरुवर्य के प्रकाशदीप को थामे साधना में संलग्न हूँ। आप सब भद्रजनों का सहयोग एवं आशीर्वाद मिलता रहा तो विश्वास है कुछ न कुछ वैदिक विज्ञान का प्रकाशन इस तुच्छ जीवन में अवश्य होगा। इन्हीं आशाओं और विश्वास के साथ—

आप सबका सेवक
—वेदपाल सुनीथ

शतपथ एवं उसके प्रवक्ता

महर्षि याज्ञवल्क्य

संक्षिप्त परिचय

शतपथ ब्राह्मण यजुर्वेद का ब्राह्मण है। इसका प्रवचन महर्षि याज्ञवल्क्य ने किया था। इसमें सौ अध्याय होने से इसका नाम शतपथ ब्राह्मण है। यह सब ब्राह्मणों में बड़ा, एक अति विशाल ग्रन्थ है। इसके अक्षरों का परिमाण २४ हजार श्लोक है। महर्षि याज्ञवल्क्य ने इसे माध्यन्दिन आदि १५ शिष्यों को पढ़ाया तथा उन्होंने इसके पठन पाठन की पृथक्-पृथक् व्यवस्था की। इस प्रकार शतपथ ब्राह्मण १५ शाखाओं में प्रसिद्ध हुआ। सम्प्रति इसकी केवल दो माध्यन्दिन एवं काण्व शाखा ही उपलब्ध हैं शेष करालकाल की ग्रास बन गई। पण्डितवर्य युधिष्ठिर मीमांसकजी ने लेखक को बताया कि कात्यायन के शतपथ का कुछ अंश लाहौर में था जो वहीं १९४७ में नष्ट कर दिया गया।

माध्यन्दिन शतपथ ही अधिक प्रसिद्ध है। इसी पर हरिस्वामी तथा सायण ने अपने भाष्य लिखे थे। हमने भी माध्यन्दिन शतपथ के ही सन्दर्भों का व्याख्यान इस ग्रन्थ में किया है।

पुराणों के अनुसार महर्षि याज्ञवल्क्य का जन्म गुजरात में हुआ था। इन्होंने आचार्य श्री आदित्य से मूलवेदों का ज्ञान प्राप्त किया तथा उनके प्रचार प्रसार का महान् उद्योग भी किया। उनकी विलक्षण प्रतिभा का दर्शन शतपथ में स्थाने-स्थाने होता है। वे अपनी वैदिक विज्ञान की उच्चता के फलस्वरूप ऋषिमण्डल में सदा दीप्तिमान् रहते थे। अपने समय के महा-विज्ञानी मिथिला नरेश विदेह जनक ने याज्ञवल्क्य को अपना गुरु स्वीकार किया। इसी महान् ऋषि के तपः प्रताप से आज हमें मूल वेद संहिताएं प्राप्त हैं। बाद में सर्वस्व का त्याग करके इस महर्षि ने संन्यास ले लिया था ऐसा शतपथ से ज्ञात होता है।

प्रथम पथ

देवयाजी श्रेष्ठ हैं या आत्मयाजी

जब हमने मानव जाति का सर्वेक्षण (Survey) किया तो कई प्रकार के लोग दिखाई दिये। उनमें कुछ लोग तो ऐसे मिले जो अपनी इन्द्रियों की तृप्ति को ही परम पुरुषार्थ समझते हैं, चाहे दूसरे प्राणियों को कितना भी क्लेश क्यों न हो, ये लोग अपने को सुखी करने में जीवन की सार्थकता मानते हैं। ये तड़पते हुए निरीह प्राणियों को भूनकर खाने में कुछ भी पाप नहीं समझते। गरीब से गरीब के धन को हड़पलेने में उन्हें कोई संकोच नहीं होता। ये लोग जड़ एवं चेतन पदार्थों का उपयोग अपने ऐन्द्रियक सुखों (Carnal pleasures) के लिए कर लेना चाहते हैं। परलोक में ये विश्वास नहीं करते। कर्मों का फलप्रदाता कोई ईश्वर है ऐसा ये जन नहीं मानते। इनका केवल एक नारा (Slogan) है—**यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्*।**

अर्थात् जब तक जीवो तब तक सुख से रहो। इसके आगे कुछ नहीं। श्रवण मात्र से इनका यह सिद्धांत अतीव चारु (अच्छा) लगता है। साधारण लोगों की तो क्या बात बड़े बड़े धर्मात्मा एवं विद्वान् व्यक्ति भी इस इन्द्रियतर्पक दर्शन के जाल में फँस जाते हैं। इसी दर्शन के अनुगामी जनों को वेदशास्त्रों में दस्यु, अनार्य एवं असुर कहा है। जब समाज में इन दस्युभावों की प्रचण्डता भड़क उठती है तो ये दस्यु जन बड़े बीभत्स (Disgusting) एवं घृणित कार्य करते देखे जाते हैं। मध्य एशिया की घुमन्तु जातियों में जब ये दस्यु भाव प्रबल हुए तो वे इतनी निर्दयी हो उठीं कि उन्होंने अपने बूढ़े माता पिताओं तक का भी वध करने में संकोच नहीं किया। जब दयालु जनों ने पूछा—ओ निर्दयी लोगो ! यह कृतघ्नता का नीच कर्म तुम क्यों करते हो ? तो वे बोले अब ये किसी काम के नहीं रहे। ये अब जराजीर्ण हैं। लड़ने की, लूटने की ताकत अब इनमें नहीं रही। अतः इनके जीवित रहने से हमें क्या लाभ।

---

* **सर्वदर्शन संग्रह**

यह सच है ऐसे महान् दस्युओं की संख्या का अनुपात बहुत अधिक नहीं होता। जब कभी इन अनार्यभावों की अतिवृद्धि हो जाती है तो धरती का सन्तुलन बिगड़ जाता है। चारों तरफ लूट-खसोट एवं हत्याओं का साम्राज्य छा जाता है। पृथिवी युद्ध के बादलों से ढक जाती है और स्वसुख-परायणता का भयङ्कर परिणाम महाविनाश के रूप में प्रकट होता है। यही कारण है कि सम्यग्दर्शी ऋषि मुनि एवं सन्तजन मनुष्यों को परोपकार धर्म की सीख देते हैं। समझदार लोग इन्हीं अनार्यभावों के विस्तार को रोकने के लिए नाना मर्यादाओं की स्थापना करते हैं। संसार में राज्यशासन व्यवस्था के प्रचलन में सूक्ष्मरूप से यही भाव काम करता है। वैदिकवाङ्मय में इसी परहितार्थ सङ्गठित समारम्भ के भाव को प्रकाशित करने वाला शब्द यज्ञ है। जो जड़ या चेतन पदार्थ हमें उपकृत करते हैं उन्हें वैदिक भाषा में देव कहा हैं। ये देव दिव्य गुणों के धारक हैं। उनके ये दिव्यगुण ही हमें सुखी करते हैं। उदाहरण के लिए जल देवता को लीजिए। इसके दिव्यगुणों का साकल्येन वर्णन तो शायद कोई बहुत बड़ा भूतविद्या का पण्डित भी न कर सके। जब हम प्यास से तड़प जाते हैं तब यही जल देवता हमें शान्ति प्रदान करता है। जिस जल के अभाव में हमारे पैर लड़खड़ा जाते हैं, हाथ ढीले पड़ जाते हैं, जिह्वा बोलने तक का साहस नहीं कर पाती पर जल पीते ही ये सब जीवन्त हो जाते हैं। जल देवता की इस जीवनप्रदायिता को देखकर ही तत्त्वदर्शी, ऋषियों ने इसका एक नाम जीवन रखा।

वायु देवता की महिमा भी कुछ कम नहीं। क्रान्तद्रष्टा कवि जब किसी की अतिप्रियता का वर्णन करना चाहता है तो वह इस वायु देवता को ही उपमान बनाता है। राम को जब भाई लक्ष्मण के लिये अपने प्रेम को प्रकट करने के लिये अन्य कोई शब्द नहीं सूझा तो वे भी कह उठे—लक्ष्मण तो मेरा दूसरा बाहर घूमने वाला प्यारा प्राण है।*

सचमुच प्राणवायु के बिना जीवन की कल्पना नहीं की जा सकती। सूर्य, चन्द्रमा, पृथिवी; अग्नि आदि भी इसी प्रकार के जीवन के प्रदाता अति-महत्त्वपूर्ण देवता हैं। माता पिता गुरु आदि लौकिक चेतन देवता हैं तो इस समस्त ब्रह्माण्ड का कर्त्ता धर्त्ता एवं हर्त्ता परमदेव परमेश्वर अलौकिक,महादेव हैं। यदि हम तनिक भी विचार करें तो आभास मिलेगा कि इन चेतन देवताओं के सहकार एवं अनुकम्पा के बिना हमारे जीवन विकास की अणुमात्र भी

* 'प्रियं प्राणं बहिश्चरम्—रामायण युद्ध काण्ड

सम्भावना नहीं। इन देवताओं की कृपा के विना हम बोलना तक भी नहीं सीख सकते। श्रेष्ठ जन इन जड़ एवं चेतन देवताओं के उपकार के बदले में इनका यजन करते हैं। इन देवताओं की यथोचित सेवा करते हैं। जल एवं वायु आदि जड़ देवताओं के लिये ये भद्रजन अग्निहोत्रादि यज्ञ करते हैं, वृक्षों को लगाते हैं; नदी सरोवरों के जल को निर्मल रखने के नाना उपाय करते हैं, वायु प्रदूषणकर्त्ताओं को दण्डित करने की व्यवस्था करते हैं। माता-पिता आदि उपकारक चेतन देवताओं की भी ये जन श्रद्धापूरित मन से सेवा करते हैं, ज्ञानप्रकाश के प्रदाता विद्वानों का ये लोग हृदय से सत्कार करते हैं, उन्हें पूर्णशक्ति से धनधान्य प्रदान करते हैं। ऋषियों ने ऐसे भद्रजनों को ही देवयाजी कहा है। इस प्रकार देवयाजी देवों का यजन करते हैं तो देव इन्हें नाना सुख प्रदान करते हैं। देवयाजियों के समाज में राजा एवं प्रजा निज-निज कर्त्तव्यों का पालन करते हैं। असहाय, रोगी एवं जराजीर्णों की सेवा की पवित्र मर्यादा देवयाजियों में स्थापित हो जाती है। इस प्रकार मानवसमाज सुखपूर्वक वैभव का उपभोग करता है, जीवन की अन्तिम वेला तक मनुष्य दुःखताप से वचने का उपाय कर लेता है।

संसार के अधिकसंख्यक लोग इसी देवयाजिता के सुखकारी रमणोय पथ पर चलना चाहते हैं। वे इसी पथ के अनुसरण में ही जीवन की पूर्णता समझते हैं। देवयजन का यह सुमार्ग प्रत्यक्ष फल प्रदाता है। वे जानते हैं—यदि देवयजन की मर्यादा भङ्ग हुई तो रोगी होने पर तड़प-तड़प कर मरना पड़ेगा, जरावस्था में दुर्गति हो जायेगी, वलवान् दुर्वलों का खून पीने लगेंगे, बुद्धिमान् अल्पबुद्धियों का शोषण करेंगे, धरती नरक वन जायेगी।

पर वेदवेत्ता ऋषि बोले—ओ देवयाजियो! जीवन का तुम्हारा यह सुपथभी पूर्ण नहीं। देवयाजी बोले—हे सम्यग्दर्शी ऋषिगण! वेदों में देवयजन का उपदेश है। वेदविद्या के ज्ञाताओं में अग्रासन पर स्थित महर्षि याज्ञवल्क्य ने देवयजन का विस्तारपूर्वक प्रवचन किया है।' देवयजन का सुखदायी फल प्रत्यक्ष है। ऋषियों ने कहा तुम ठीक कहते हो लौकिक सुखों की प्राप्ति बिना देवयजन के सम्भव नहीं पर जव हमने निर्मल मन से सुख का स्वरूप देखा तो पाया कि सुख के साथ दुःख के सूक्ष्म बीज चिपटे हैं। योगशास्त्र के उपदेष्टा महर्षि ने तो स्पष्ट ही अपने शास्त्र में लिख दिया **सुखानुशायी रागः*** अर्थात् राग नामक क्लेश की उत्पत्ति का कारण सुख ही है। यही कारण है सब

* योगदर्शन

सुविधा वैभव को पाकर भी, पूर्ण देवयाजी बनकर भी मनुष्य पूर्ण शान्त नहीं होता पूर्णकाम नहीं हो सकता। देवयाजी चिन्ता में पड़ गये और महर्षि याज्ञवल्क्य के पास जाकर उन्होंने पूछा—हे यज्ञशास्त्र के उपदेष्टा ! आप ने मनुष्य समाज को देवयाजी बनाने के लिये शतपथ ब्राह्मण जैसे विशालकाय ग्रन्थ का प्रवचन किया है। क्या देवयाजी सर्वतोभावेन सुखी नहीं हो सकता ? महर्षि ने शान्तचित्त होकर उत्तर दिया—हे देवयाजकों यह तो सम्भव नहीं। क्या पृथिवी पर कोई भी देवयाजी सर्वतोभावेन तुम्हें शान्त दिखाई देता है। देवयाजक बोले महर्षि ! हम धराधाम को पूर्णसुखी बनाने का उद्योग कर रहे हैं। क्या हमारे देवयजन के समारम्भ (Enterprise) से धरती के निवासी कदापि पूर्ण सुख लाभ नहीं कर सकेंगे ? ऋषि ने फिर उत्तर दिया असम्भव। ऋषि बोले हे भद्र याजकगण यदि देवयजन से ही मनुष्य पूर्णशान्तिलाभ कर लेता, वह पूर्णकाम हो जाता तो मैं अपने ब्राह्मण के अन्त में उपनिषद् विद्या का उपदेश क्यों करता, देवयजन के व्याख्यान प्रसंगों में भी मैंने इस तथ्य का प्रकाशन बहुत्र किया है कि हे देवयाजको ! यदि तुम्हारे यज्ञीय शुभकर्मों के अनुष्ठान का लक्ष्य भौतिक सुख वैभव की प्राप्ति तक सीमित है तो तुम्हारा जीवन तुच्छ है तुम्हारा लक्ष्य दुःख परिणामी है। देखो ! हमने स्पष्ट लिखा है—

अथ ह स देवयाजी। यो वेद देवानेवाहमिदं यजे। देवान सपर्ययामीति। स यथा श्रेयसे पापीयान् बलिं हरेत्। वैश्यो वा राज्ञे बलिं हरेत्। एवं सः। स ह न तावन्तं लोकं जयति यावन्तमितरः।*

अर्थात् अब देवयाजी के स्वरूप को कहते हैं। जो व्यक्ति केवल यही जानता है कि मैं देवों का यजन करता हूँ, देवों की पूजा करता हूँ, क्योंकि इनके यजन से मैं नाना विध सुख प्राप्त करूँगा। वह व्यक्ति ऐसा ही है जैसे कोई हीन पुरुष अपने से बड़े को उपहार दे, जैसे कोई वैश्य राजा को कर प्रदान करे। इस प्रकार का कोरा देवयाजी व्यक्ति उस शान्तिपूर्ण लोक को प्राप्त नहीं करता जिसको आत्मयाजी प्राप्त करता है।

देवयाजियों के मन में हलचल मच गई। उनके मन में यह विचार घूमने लगा—आत्मयाजी कौन है ? उसको कौनसा अद्भुत शान्तिलोक प्राप्त होता है। क्या हमारा यह महान् देवयजन का उद्योग उस लोक को प्राप्त नहीं करा सकता। देवगण तो अतीव कारुणिक हैं, हमने उनकी सेवा की और वे तुरन्त उसका फल प्रदान करते हैं। पर आत्म-यजन से हमें क्या मिलेगा ? कुछ भी फल तो दिखाई नहीं देता। यह प्रश्न देवयाजियों के हृदय को आकुल

* मा. श. ११-२-७-१३

कर रहा था। मगध देश के महाराज अजातशत्रु के मन में भी एक बार यह प्रश्न उठा था। वह अपने समय के सम्यग्दर्शी महात्मा गोतम बुद्ध के पास गया और पूर्णविनय के साथ भिक्षुसंघ सहित भगवान् बुद्ध का अभिवादन करके बोला—भन्ते ! मैं आपसे कुछ पूछना चाहता हूँ। क्या भन्ते आप मुझे पूछने की अनुमति प्रदान करेंगे ?

विनयधारी तथागत ने कहा—"महाराज जो चाहो पूछो।" अजातशत्रु वैदेहीपुत्र ने कहा—भन्ते ! लोक में भिन्न-भिन्न सुखसाधन हैं। भन्ते ! गाय है, अश्व (घोड़ा) है, हाथी है, दास हैं, दासी है, मनोहर फूल हैं, रसपूर्ण फल हैं, बहुविध स्वादिष्ट और वलहेतुक अन्न हैं, भन्ते इन सब सुखसाधनों से मनुष्य प्रत्यक्ष सुख लाभ करता है पर भन्ते आपके श्रामण्यधर्म (आत्म-साधनाधर्म) का कुछ भी लौकिक फल दिखाई नहीं देता तो क्या भन्ते ! यह बताने की कृपा करेंगे इस श्रामण्यधर्म का आप क्या लाभ देखते ?

तथागत बोले—वैदेहीपुत्र ! क्या अन्य ब्राह्मण विद्वानों से भी तुमने कभी यह प्रश्न पूछा ?

महाराज ने कहा—भन्ते ! हाँ मैं इसी के लिए महाविद्वान् कश्यप के पास भी गया उन्होंने अक्रियावाद का ही उपदेश मुझे दिया। मैं मक्खलि गोसाल के भी पास गया उसने दैववाद का निर्देश दिया। मैं महाभूतवादी अजित-केशकम्वल के पास गया और भन्ते ! मैंने यही प्रश्न उनसे पूछा तो भन्ते ! वे बोले—हे महाराज ! न दान है, न यज्ञ है, न पुण्य है, न पाप है, न लोक है, न परलोक है। मनुष्य चार महाभूतों के मेल से बना है जब मरता है इन्हीं में लीन हो जाता है। मूर्ख तथा पण्डित सभी उच्छेद (नाश) को प्राप्त हो जाते हैं। इस प्रकार भन्ते ! अजितकेशकम्बल ने उच्छेदवाद का उपदेश मुझे दिया। प्रक्रुद्ध कात्यायन तथा सञ्जय वेलट्ठिपुत्र के पास भी मैं गया पर भन्ते जैसे कोई पूछे आम उत्तर दे कटहल, पूछे कटहल उत्तर दे आम। सो भन्ते मैंने न उनकी निन्दा की न अभिनन्दन, मैं आसन छोड़कर आ गया। भन्ते आज मैं आप से पूछता हूँ इस श्रामण्यधर्म का फल क्या है ? आत्मसाधना की श्रेष्ठता क्यों है ?

इधर देवयाजी भी महर्षि याज्ञवल्क्य से पूछ रहे हैं—

आत्मयाजी श्रेया३न् देवयाजी३इति

हे महर्षे हमें बताइये आत्मा का यजन करने वाला व्यक्ति अधिक श्रेष्ठ है अथवा देवों का यजनकर्त्ता, लौकिक सुखभोक्ताजन अधिक श्रेष्ठ है। महर्षि याज्ञवल्क्य बोले सुनो—

आत्मयाजीति ह ब्रूयात् ।*

जब कोई पूछे आत्मयाजी श्रेष्ठ या देवयाजी तो यही कहना चाहिये आत्मयाजी अधिक श्रेष्ठ है । निश्चित रूप से अपनी आत्मा का संस्कार करने वाला, अपनी आत्मा के दोषों का उच्छेत्ता ही उत्तम कल्याण को प्राप्त करता है । वह ही सुघी एवं श्रेष्ठ जन है ।

देवयाजी बोले—महर्षे ! आपने देवयजन की सब विधियों का व्याख्यान अपने ब्राह्मण में किया है आप हमें यह भी बताईये आत्मयजन की विधि क्या है ? ऋषि ने कहा हमने अपने ब्राह्मण में स्पष्ट तो लिखा है—

स ह वा आत्मयाजी—यो वेदेदं मेऽनेनाङ्गः संस्क्रियते इदं मेऽनेनाङ्ग-उपधीयत इति ।**

अर्थात्—वह देवयाजी ही निश्चितरूप से आत्मायाजी हो जाता है जो जानता है इस यजनकर्म से मेरी आत्मा का यह भाग संस्कृत होता है, दोष रहित होता है । इस यजनकर्म से मेरी आत्मा का यह अङ्ग सम्यक्कर्म में आस्थित होता है । हे भद्र जनो ! इस प्रकार समस्त देवयजन का कर्मकाण्ड आत्मयजन का साधन बन जाता है । जो व्यक्ति देवयजन के अनुष्ठानों को उक्त भाव से करता है वह परम शान्ति के लोक को अधिगत करता है । देखो हमने आगे इसी रहस्य को प्रकट करते हुए लिखा है—**स यथा अहिस्त्वचो निर्मुच्यते एवमस्मात्मार्त्याच्छरीरात् पाप्मनो निर्मुच्यते । स ऋङ्मयो यजुर्मयः साममय आहुतिमयः स्वर्गंलोकमभिसम्भवति ।*****

जैसे सर्प केचुली से निर्मुक्त होकर सुख के साथ विहार करता है उसी प्रकार आत्मयाजी इस मरणधर्मा शरीर से होने वाले सब पापों से निर्मुक्त हो जाता है । वह ऋचाओं के ज्ञान को आत्मसात् करके यजुमन्त्रों के निर्देशानुसार शुभकर्मों से पवित्र होकर, साम मन्त्रों के पवित्र ज्ञान से पूर्ण शान्त होकर अपने आपको परमदेव के महान् परोपकार धर्म रूप यज्ञ के लिये आहुति रूप बनाकर मोक्षानन्द के प्रापक परम कल्याणकारी लोक को प्राप्त हो जाता है । हे भद्रजनो ! तब वह आत्मयाजी भौतिक सुखों से निरपेक्ष हो जाता है । उसकी आत्मा को तब कोई भी दुःख व पीड़ा क्लेशित करने में कृतकारी नहीं हो पाती । उसकी सब कामनाएँ शान्त हो जाती हैं ।

---

* मा. श. ११-२-७-१३

** मा. श. ११-२-७-१३

*** मा. श. ११-२-७-१३

साधु प्रेक्षी बुद्ध ने भी यही उत्तर मगध देश के राजा को दिया था कि राजन् ! श्रामण्यधर्म के सेवनकर्त्ता के अन्तः से आनन्दधारा का प्रवाह फूट जाता है । जैसे कोई रोग से निरोग होकर, जैसे कोई ऋण से मुक्त होकर, जैसे कोई भयंकर कान्तार (जंगल) की यात्रा से निपटकर, जैसे कोई कारागार से छूट कर, जैसे कोई दासता से स्वतन्त्र होकर सुखलाभ करता है । हे भद्र ! आत्मयाजी भी लोभ से, हिंसा से, चित्त एवं काया के आलस्य से कुकर्म से तथा संशय से निर्मुक्त होकर शान्तिलाभ करता है । हे राजन् ! जैसे उस तालाब को देखो जिसमें न पूर्व से ही जलधारा आकर गिरती है न पश्चिम से न दक्षिण से न उत्तर से न उसमें बादल का जल ही गिर रहा है फिर भी वह तालाव नीचे से उद्भूत हुई शीतल मधुर जलधारा के जल से परिपूर्ण है । जिस प्रकार उस तालाव का हर किनारा शीतल जल वाला है, उसी प्रकार आत्मयाजी का सम्पूर्ण शरीर अन्तः से प्रस्फुटित शीतल जलरूपी विवेकधारा से ओत-प्रोत हो जाता है ।

तब पूर्ण काम हुआ आत्मयाजी लोभ के वशीभूत नहीं होता, फिर उसकी प्रवृत्ति पर-धन के हरण में कैसे हो सकती है । जब वह सदैव आनन्द रसधार में निमग्न है तो फिर उसका मन क्षणिक सुखों की ओर कैसे जा सकता है । सचमुच जहाँ स्पृहा नहीं, भोगतृष्णा नहीं, मोह का बन्धन नहीं वहाँ क्लेश कहाँ, दुःख कहाँ, सन्ताप कहाँ और मृत्यु का भय कहाँ ? निश्चित रूप से समग्र पृथिवी का वैभव भी सर्वदेवों की अनुकूलता भी आत्मयाजी के सामने हीन हैं, भयमिश्रित हैं, दुःख परिणामी है, अन्तविपाकी है । इसलिए सम्यग्दर्शी महर्षि याज्ञवल्क्य ने ठीक कहा—**आत्मयाजी श्रेयान्**—आत्मा का यजन करने वाला ही सर्वश्रेष्ठ है । यही कारण है तथागत गौतम ने आत्मयाजी होकर राजवैभव की कामना नहीं की । यही कारण है कोपीनधनी आत्मयाजी दयानन्द गङ्गातीर पर भी अन्तर्मोद से दीप्तिमान् है । इसलिये हे देवयाजी भाईयो ! आओ देवयजन से आगे बढ़ें तथा आत्मयजन के पावन पथ के राही बनें ।

द्वितीय पथ

देवों का राक्षसहन्ता महान् शस्त्र—यजुओं का पवित्र ज्ञान

गांव तक का भी आदमी देवों और राक्षसों की लड़ाई से परिचित है। सच तो यह है कि देव और राक्षसों की लड़ाई धरती पर सदैव चलती रहती है। देव तथा राक्षसों की लड़ाई के विषवर्षक काले बादल आज यहाँ दिखाई देते हैं तो कल कहीं और। देश-देशान्तरों की बात छोड़िये कोई ऐसा गाँव नहीं मिलेगा जहाँ इस लड़ाई का काला धुआं दिखाई न पड़े। एक ही माता के गर्भ से जन्मे भाइयों तक में यह भयङ्कर युद्ध देखने में आता है। धरती के जिस छोर पर जाइये यह देवों तथा राक्षसों का दुःखदायी युद्ध नज़रों में जरूर आ जायेगा। जिस व्यक्ति को आज हम भला समझते हैं, देवकोटि का मानते हैं वही कुछ दिन के पश्चात् नीचता और अधमता के पापकर्म करता दिखाई दे जाता है। दुष्ट चोर लुटेरे राक्षसकोटि के जन भी कुछ दिनों में महात्मा बनते देखे गये हैं। जिस आदमी को कुछ दिन पहले लोग घृणा से देखते थे आज वही लोग उसके गुणकीर्तन करते मिले। विचार करने से ज्ञात हुआ कि शरीर से न कोई देवता है न राक्षस। परोपकारशीलतादि दिव्य गुणों की प्रबलता ही मनुष्य को देवपद से भूषित कराती है तो अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिये परपीड़क नीच कर्मों का अनुष्ठान ही मनुष्य को राक्षस बना देता है।

राक्षस-मनुष्य के मानस में स्थित दुःसंस्कार हैं जो उसे धर्माधर्म के चिन्तन से विरत कर देते हैं। अपने कुल व परिवार के यश एवं कीर्ति पर कालिमा लगने का भय भी उन्हें नहीं होता। प्यार से पालने वाली माता तक का तिरस्कार करने में भी ये राक्षसप्रवृत्ति के जन संकोच नहीं करते। अपनी पाप वासनाओं को पूर्ण करने के लिये दुर्बलों का खून तक पी जाने में ये दोष नहीं समझते। ऋषिकुल में उत्पन्न रावण इसी प्रकार का अधम पुरुष था। छल-पूर्वक पराई स्त्री को चुराने में उसको कुछ भी लज्जा नहीं आई। भाई के पुष्पकविमान को छीनने में अपना बल-कौशल समझता था। भद्रपुरुषों की

सीख पर कान तक नहीं धरा। यही कारण है कि शास्त्र के रहस्यों को न जानने वाला सामान्य जन भी कहता है कि रावण राक्षस था। यद्यपि रावण का शरीर भी वैसा ही था जैसा देवस्वरूप श्रीराम का था। बस उसके नीच और राक्षसी विचार ही उसे राक्षस कहला गये।

जब हमने यह शास्त्रसिद्ध वास्तविक बात लोगों से कही तो वे विश्वास नहीं कर सके और बोले—नहीं राक्षसजाति भिन्न है और देवजाति भिन्न। पहले के पण्डित हमें तो यही बताते आये हैं। भला क्या पहले के पण्डित शास्त्र नहीं पढ़े थे ? हमने कहा—देखो ! महाराजा जनक के गुरु महर्षि याज्ञवल्क्य अपने समय के महान् ऋषि थे। बड़े-बड़े ऋषि उसके पास वेद के गूढ़ रहस्यों को समझने के लिये आते थे। एक ऋषि-सभा में महाविदुषी गार्गी ने कह दिया था कि मेरे प्रश्न काशीराज के तीक्ष्ण बाणों के समान अति भयङ्कर हैं, यदि याज्ञवल्क्य ने मेरे प्रश्नों का उत्तर दे दिया तो समझ लेना याज्ञवल्क्य से अधिक वेदवेत्ता ब्रह्मिष्ठ (Very learned) कोई ऋषि नहीं है और याज्ञवल्क्य ने गार्गी के प्रश्नों के उत्तर देकर समस्त ऋषिमण्डल को चकित कर दिया।* विदेहराज जनक ने भरी सभा में याज्ञवल्क्य का पूजन किया और उन्हें हज़ारों सुन्दर गायें भेंट में प्रदान कीं। इसी महान् ऋषि ने लोकमात्र पर अनुग्रह (कृपा) करते हुए परमपिता प्रभु की पवित्र वाणी यजुर्वेद का व्याख्यान किया, जिसका नाम शतपथ ब्राह्मण है। उन्होंने अपने शतपथ ब्राह्मण में स्पष्ट लिखा—

तस्मिन् एतस्मिन् सर्वे देवाः श्रिताः**

अर्थात् सब देव मनुष्य के सिर में रहते हैं। भला जब सब देव सिर में अवस्थित हैं तो फिर उनसे युद्ध करने वाले राक्षस अन्यत्र कैसे हो सकते हैं। लोग बोले ठीक है। महर्षि याज्ञवल्क्य ने देवों को मनुष्य के सिर में रहने वाले कहा है पर सब लोग कहते हैं देव तो दिव (स्वर्ग) में रहते हैं। जब देव स्वर्ग के वासी हैं तो वे मनुष्य के सिर में रहने वाले कैसे हो सकते हैं। हमने कहा भाइयो ! यह भी थोड़ी-सी समझने की बात है। यदि ये पण्डित कुछ ध्यान से वेद-शास्त्रों को पढ़ते तो उन्हें समझ में आ जाता कि द्युलोक प्रकाश के लोक को कहते हैं। भाइयो ! स्वर्ग सुख को देने वाला सूर्य का यह प्रकाश नहीं हो सकता। जब तक आत्मा में ज्ञान का प्रकाश नहीं तब तक सुख

---

* द्रष्टव्य—मा. श. बृ. उ. ३-८

** मा. श. ६-१-१-७

और शान्ति कहाँ। आत्मा में ज्ञान प्रकाश आंख, कान आदि इन्द्रियों के विना कभी नहीं हो सकता अन्धे। बहरे और गूंगे को भला ज्ञान का पवित्र प्रकाश कैसे हो ? इसलिये मनुष्य का कल्याणकारी द्युलोक तो मनुष्य का सिर है इस सिर में नेत्रादि सब ज्ञानप्राप्ति के साधन विद्यमान हैं। देखो महर्षि याज्ञवल्क्य ने स्पष्ट शब्दों में कहा है—**शिर एव द्यौः:*** अर्थात् सिर ही वास्तविक द्युलोक है। सचमुच देव तथा राक्षस दोनों ही हमारे सिर में रहने वाले अच्छे और बुरे विचार हैं। देव याजकभाव हैं तो राक्षस यज्ञनाशक पापपूर्ण कुविचार शक्तियाँ हैं। देव परहित साधक पुण्यभाव हैं तो राक्षस पर-धन हड़पकर मौज उड़ाने के विचार हैं। इन विरोधिभावों का युद्ध सदा से चलता आ रहा है। देवशक्तियाँ प्रबल हो गईं तो आदमी श्रेष्ठ कार्य करता है। लोग ऐसे व्यक्ति को ही देवता कहने लगते हैं। ऐसा व्यक्ति लोभ-लालच को दवा लेता है। वह किसी निर्बल का धन ठगने का कुविचार अपने मन में बैठने नहीं देता। अपने पुरुषार्थ से कमाये धन को भी अपने गरीब भाइयों की सेवा में लगाकर पुण्य तथा यश दोनों को प्राप्त करता है।

इस महात्मा को देखो ! इनका नाम मोहनदास कर्मचन्द गांधी है। इसके सिर में स्थित देवभाव अति प्रवल हैं। अफ्रीका में दुःख भोग रहे अपने देशबन्धुओं को देखकर इनके देवभावों ने इनको विवश कर दिया और ये अपने भाइयों के दुःख क्लेश दूर करने में जुट गये। चाहते तो अपने बुद्धिबल से हजारों रुपये कमाकर बहुविध सुखों को भोग सकते थे परन्तु मस्तिष्कस्थ देवशक्तियाँ उन्हें द्रवित कर रही हैं अपने भाइयों की पीड़ा को हरने के लिये। इन्हीं देवशक्तियों के कारण कुछ ही दिनों में गांधी का यश देश-देशान्तरों में फैल गया। यह देखो हरिद्वार में गंगा के किनारे मुंशीराम और उनके कुल के छोटे-छोटे ब्रह्मचारी पत्थर तोड़ रहे हैं। लोगों ने दयार्द्र हृदय से पूछा— हे ब्रह्मचारिगण ! तुम यह मजदूरों का कष्टदायक काम क्यों कर रहे हो ? एक ब्रह्मचारी झटिति बोल पड़ा—तुम्हें पता नहीं अफ्रीका में महात्मा गांधी अपने गरीब भाइयों की सेवा में लगे हैं उन्हें धन की जरूरत है, हम मजदूरी करके उनकी सहायता करेंगे। हमारे कुलपिता की यही प्रेरणा है। इतना ही नहीं लाखों लोगों ने गांधी को मनुष्य नहीं देवता मान लिया। उनका मान-सम्मान करने की तथा उनको अभिवादन और अभिनन्दन करने की महती इच्छा भारत के हजारों लोगों के हृदय में उठ पड़ी। बहुत दिनों के पश्चात् देव

* मा. श. ९-३-१-६

पुरुष गांधी आज अफ्रीका से भारत लौटे हैं। असंख्य लोग उनके स्वागत के लिये खड़े हैं। गुजरात के अनेक श्रेष्ठी इस देवता की पूजा में अपना धन चढ़ाने लगे, किसी ने कस्तूरबा मां को अपना कीमती हार तक भेंट कर दिया। रात्रि आई। रात के शान्त और नीरव समय में महात्माजी के सिर में प्रतिष्ठित देवशक्तियाँ उन्हें उत्प्रेरित कर रही हैं—गान्धी ! तू ने यह सेवा क्या पूजा की भेंट पाने के लिये की थी ? यदि ऐसा है तो तू स्वार्थी है, राक्षस है और महात्माजी को उनकी देवशक्तियाँ विवश कर देती हैं उस कीमती भेंट को भी परोपकार के पवित्र कार्य में समर्पित कर देने के लिये। बस ये ही दिव्य-भाव गुणशक्तियाँ मनुष्य को देव बनाने वाली हैं। इसके विपरीत निजस्वार्थ के लिये अच्छे कामों में बाधा डालना, लूट-खसौट करके परधन हड़प लेना तथा उसे इन्द्रिय भोगों के लिये उपयोग करने के पापपूर्ण विचार हीं राक्षस हैं। जिस देश के लोगों में जब ये पापपूर्ण वाले राक्षसभाव प्रवल हो जाते हैं तो वे एक-दूसरे को लूटने-मारने में प्रवृत हो जाते हैं। तब वह देश व जाति नाना वेदनाओं से हा-हाकार करती है। वलवान् से बलवान् व्यक्ति भी रात को सुख की नींद नहीं सो पाता वह भी भयभीत रहता है पता नहीं कव कोई दुष्ट-राक्षस आये और मुझे सोते हुए को मारकर सर्वस्व लूट ले जाये।

ये देखो एक बुद्धिमान् व्यक्ति है। देखने में यह चिकित्सा का पवित्र कार्य करता है, चाहे तो दीन-दुःखियों के क्लेशकारक रोगों को दूर करके लोक में पूजित हो सकता था। लोग उसके पुण्य गीत गाते पर उसके मस्तिष्क में राक्षसी भाव छाये हुये हैं। अपनी विद्या एवं बुद्धि के बल से हज़ारों रुपये रोज कमा रहा है। थोड़ी देर काम करके विपुल धन बटोर रहा है। धन वैभव की खुराक से राक्षसीभाव पुष्ट हो रहे हैं। भोग-विलास में डूब जाता है। अपनी सुन्दर पत्नी से तृप्त न होकर अन्य युवती के उपभोग की राक्षसी भूख बढ़ जाती है। पत्नी की हत्या करके अन्य सुन्दरी के पाने के प्रत्यक्षतः सुखद पर दुःखपरिणामी स्वप्न ले रहा है। उसके जाति भाई भूखे नङ्गे घूमते हैं पर यह रोज सैकड़ों रुपयों की विदेशी सुरा के पान में मस्त है। सैकड़ों प्रकार के वस्त्र उसके सुन्दर, ट्रङ्कों में सड़ रहे हैं। गरीबों को यह पशुओं के समान समझता है। देखो यह गांव का गरीव किसान अपने मरणासन्न पुत्र को लेकर इस डॉक्टर के पास आया है पर इसके पास उतना धन नहीं कि वह डॉक्टर की फीस चुका सके। गरीब किसान ने वड़ी विनयपूर्वक प्रार्थना की, डॉक्टर साहब फसल आने पर सब धन चुका दूंगा, आप मेरे प्यारे पुत्र के प्राण

बचा दीजिये । पर देखने में सभ्य पर क्रूर एवं राक्षस हृदयी इस डॉक्टर के मन पर कोई असर नहीं पड़ता । बेचारे गरीब किसान का लड़का धन के अभाव में सदा-सदा के लिये संसार से चला गया, गरीब पिता एवं माता अपने प्राण प्यारे को खोकर आंसूओं के विषघूंट पी रहे हैं पर इस श्रीमान् डॉक्टर को किञ्चित् भी दुःख नहीं ।

इसी प्रकार इस महाजन को देखिये । दुकान पर इसने अन्धेर मचा रखी है । भोले भोले किसान एवं मजदूरों को दिन दहाड़े लूट रहा है । २० रुपये के कपड़े को ३५ रुपये में दे रहा है । रोज के हजारों रुपये लूटकर अपने को बुद्धिमान् समझता है । विपुल धनवैभव को पाकर मौज उड़ा रहा है । इसके लड़के साहबजादे बनकर देश-विदेशों के होटलों में मस्ती कर रहे हैं । गरीबों की खून-पसीने की कमाई के धन को उड़ा रहे हैं । गरीबों के छोटे-छोटे बच्चों को सारे दिन मजदूरी करते हुओं को देखकर ये साहबजादे उन्हें कुत्तों से बदतर समझते हैं । अपने को ये राक्षस जन सदा-सदा के लिये सुखी करने में अपनी कुटिल बुद्धि का प्रयोग करके अपने को धन्य समझते हैं । पर इधर कुछ निर्धन पुत्रों ने मिलकर सोचा—इस नीच जीवन से तो मरना भी भला है और वे भी जुट गये इन बुद्धिमान् और चालाकों को लूटने में, उनकी सुन्दर बेटियों की इज्जत लूटने में । चारों तरफ हा-हाकार मच गया, सुख वैभव के राक्षसी महल ढहने लग गये । आज डाक्टर का घर लूट लिया गया तो कल लालाजी का लाडला साहबजादा मारा गया । अब रोते हैं विलखते हैं । चारों तरफ दुःखपूर्ण क्रन्दन (रोना) है । न गरीब को शान्ति है न धनवान् को सुख । इसी का नाम है 'नरक' । जहाँ देवत्व (Divinity) क्षीण होगा वहाँ नरक का आविर्भाव (Presence.) अटल है । यह सुनकर लोग बोले ठीक है—पञ्जाब के चालाक लोग इन्हीं राक्षसी भावों के वशीभूत होकर गरीब किसान व मजदूरों का धन हड़प रहे थे । गरीबों का शोषण करके मौजमस्तियां उड़ा रहे थे पर आज हा-हाकार मचा हुआ है । कोई बचाने वाला दिखाई नहीं देता । भगवान् इस दुःखदायी नरक से बचाये । नरक हेतु राक्षस भावों को समाज से दूर करना आवश्यक है । लोगों ने पूछा देवकोटि के लोग इन दुर्भावों को मार भगाने के लिये क्या करते थे । महाविज्ञानी याज्ञवल्क्य ने इन राक्षसी भावों को समाप्त करने का, मार भगाने का क्या कोई उपाय नहीं बताया ? क्या कोई ऐसा शस्त्र या अस्त्र नहीं, जिससे मनुष्य के मस्तिष्क से इन स्वार्थपूर्ण राक्षसी भावों को निकाला जा सके ताकि मनुष्य परधनहरण का पापकर्म छोड़ दे ? और गरीब भी अपने घर में पेटभर भोजन खाकर सुख से सो सके ।

धनवान् से धनवान् भी निर्भय होकर रात बिता सके ? धनी व बुद्धिमान् गरीब की सेवा में सुख समझे तो गरीब उनकी रक्षा में गौरव अनुभव कर सके। हमने कहा महर्षि याज्ञवल्क्य प्रभु की कल्याणी वाणी वेद के साक्षात्कर्त्ता महामुनि थे। उन्होंने ऐसे एक शस्त्र का निर्देश अपने शतपथ ब्राह्मण में किया है। जिससे राक्षसी भावों को मार भगाया जा सकता है तथा देवशक्तियों को बढ़ाया जा सकता है। लोगों ने बड़ी उत्सुकता से पूछा—वह शस्त्र क्या है ? हमें शीघ्र बताओ। सारे मनुष्य-समाज को राक्षसी भावों ने घेर डाला है, चारों तरफ स्वार्थ हेतु संग्राम मचा है। राक्षसी भावों के नाश के बिना सुख की आशा नहीं। हमने कहा सुनो—

"एतद्वै यजुर्ब्रह्म रक्षोहा। स एतेन ब्रह्मणान्तरिक्षमनाष्ट्रं कुरुते"*

यजुर्वेद के पवित्र मन्त्र ही राक्षसों के हन्ता शस्त्र हैं। सृष्टि के आरम्भ में ही प्रभु ने यह राक्षसघाती पवित्र ज्ञान मनुष्य को प्रदान किया था। इसी ज्ञान से मनुष्य के मस्तिष्क से राक्षसी भावों को मार भगाया जाना सम्भव है। इन्हीं यजुमन्त्रों से मानव-मस्तिष्क में उपजाने वाले नीचभाव नष्ट होते हैं। ज्योंही व्यक्ति यजुओं के पवित्र ज्ञान का ग्रहण करता है तो तुरन्त श्रेष्ठ कर्मों के रोधक राक्षसी भावों का घात हो जाता है। नीच से नीच पुरुष भी इस पवित्र ज्ञान से शुद्ध हो जाता है। उसकी आत्मा का संस्कार हो जाता है और दिव्यगुण शक्तियों को बढ़ने के लिये उपजाऊ भूमि मिल जाती है। नीच कर्मों में प्रवृत्त करने वाले दुर्भाव का अस्तित्व मिटने लगता है। यही नहीं मन्त्रों के पवित्र ज्ञान का श्रद्धा से श्रवण करने वाला डाकू भी महात्मा बन जाता है। धरती के इतिहास में ऐसे सैकड़ों पुरुष हैं जो ज्ञान के पवित्र प्रकाश को पाकर नीच से उच्च बन गये। यही कारण है कि सन्त पुरुष सत्सङ्ग की प्रेरणा देते हैं तो कुसङ्ग से बचने की सीख देते हैं। श्रेष्ठ पुरुषों की आत्मा में मन्त्रों का पवित्र ज्ञान ही प्रतिष्ठित होता है। वही पवित्र ज्ञान उसकी वाणी से प्रकट होता है। उनका सङ्ग जो करता है वह ज्ञान को अपनी आत्मा में प्रतिष्ठित कर लेता है। ज्ञान के उस पवित्र प्रकाश में राक्षसीभाव टिक नहीं पाते, धीरे-धीरे पाप विचारों के पैर उखड़ जाते हैं। आत्मा में देवशक्तियों की प्रतिष्ठा हो जाती है। फिर एक-दूसरे के शोषण का दुर्भाव मन में कैसे उठ सकता है। फिर लूटने मारने का प्रसङ्ग कहाँ ? तब जीवन का विशाल आकाश भयरहित हो जाता है। धरती के इस छोर से उस छोर

* मा. श. ४-१-१-२०

तक कहीं भी मनुष्य के पतन की सम्भावना नहीं रहती। ज्ञानसम्पन्न लोग इन्द्रियों के दुःखपरिणामी भोगों में प्रवृत्त नहीं होते। रथ चालक के घोड़ों के समान उसकी इन्द्रियाँ नियन्त्रण में रहती है। देखो ये महर्षि दयानन्द हैं। वेद के पवित्र ज्ञान से इनकी आत्मा प्रकाशित है। नदी तट पर ये ध्यानमग्न हैं। इनका तप्त सुवर्ण-सा कान्तिमान् सुन्दर देह दर्शनीय है। मुख पर सौन्दर्य की अनुपम छटा है। एक सुन्दर युवती इनके चारु स्वरूप को देखकर विमोहित हो गई। अपने मन को वश में न रख सकी और ऋषि से प्रणय की भिक्षा याचना करने लगी। संसार के सामान्य लोग सुन्दर बालाओं के लिये मरते हैं। बूढ़ों तक का राक्षसी मन उन्हें पाने के लिये लालायित देखा जाता है पर ऋषि के भोगभाव रूप राक्षसों की जड़ पवित्र ज्ञान से कर चुकी थी, देवशक्तियाँ प्रबल थी, अतः पतन का अवकाश कहाँ।

इधर देखिये यह है सम्राटों का पूज्य गौतम बुद्ध। इसने पवित्र ज्ञान के प्रकाश से राक्षसीभावों को उखाड़ फेंका है। लोग उन्हें बुद्ध व ज्ञानी कहते हैं। गरीब-अमीर उनकी चरणधूली को अपने मस्तक पर लगाता है कितने ही धनी व राजकुमार उसके क्लेशनाशक ज्ञान को पाने के लिये घर-बार को तिलाञ्जलि देकर उनके शिष्य बन गये। आज वह अपने भिक्षुक मण्डल के साथ वैशाली नगरी की ओर जा रहे हैं। सामने से एक हाथियों वाला आ गया। शिष्यों ने आगे बढ़कर कहा भद्र ! रास्ता छोड़ दो। राजवन्दनीय बुद्ध के लिए मार्ग देकर उनकी पूजा करो। हाथी वाला बोला—हे भिक्षुओ ! गौतम पूजनीय क्यों हैं ? वह क्या करता है जो मैं उसकी पूजा करूं, उसको मार्ग दूं ? विनयधारी बुद्ध आगे आये और शांत भाव से बोले 'भद्र तुम प्रत्यवदर्शी बुद्धिमान् कुशलव्यक्ति हो, बलशाली जानवरों को अपना अनुचर सेवक बनाकर तुम निश्चित रूप से अद्भुत कार्य करते हो पर भदन्त सुनो, हम भी जानवरों को ठीक करते हैं।' हाथी वाले ने चकित होकर पूछा भन्ते तुम्हारे जानवर कहाँ हैं ? तथागत गोतम ने धीरता से उत्तर दिया 'भन्दत ! मेरे जानवरों की कथा पूछते हो वे तेरे जानवरों से भी भयङ्कर हैं क्रूर हैं। देखो तुम्हारा हाथी अपनी हथिनी को नहीं मारता पर मेरे क्रूर जानवर अपनी प्यारी सङ्गिनियों की भी हत्या कर डालते हैं। काम क्रोध, लोभ और मोह के वशीभूत हुये मेरे जानवर नीच कर्म करने से नहीं चूकते। हम इन मनुष्यों जानवरों को सही रास्ता बताकर ठीक करने का काम करते हैं भद्र।' हाथी वाला गम्भीर हो गया और बोला—'भन्ते

यदि सचमुच ऐसा है यदि गौतम के ज्ञान में ऐसी शक्ति है तो वैशाली के क्षत्रियों तथा उनको भ्रष्ट करने वाली नगरवधू (वेश्या) आम्रपाली को सुपथ पर लाकर दिखाइये। उस अतुलरूपसम्पन्न बाला के सौन्दर्य धनु से निकले वाणों ने वैशाली के क्षत्रियकुमारों को छेद डाला है। भन्ते! उस रूपसी के मोहक यौवन को देखकर कौन धरतीवासी अपने मन को वश में रख सकता है। हे गौतम! मुझे डर लग रहा है कि कहीं सम्राटों का वन्दनीय तथागत भी वैशाली में भ्रष्ट न हो जाये। यदि भन्ते साहस है तो जाओ वैशाली के जानवरों को ठीक करो मैं तुम्हारे लिये मार्ग प्रदान करता हूँ। आम्रपाली का रमणीय उद्यान हे तथागत! आपकी प्रतीक्षा कर रहा है।' बुद्ध ने तथास्तु कहा और वैशाली नगरी की तरफ चल दिये। वैशाली में नगरवधू आम्रपाली के रमणीय उद्यान में तथागत ने डेरा डाल दिया। सैंकड़ों श्रावक गौतम के पवित्र ज्ञान का लाभ प्राप्त करने के लिये आने लगे। एक दिन विश्वसुन्दरी आम्रपाली अपनी अनुचरियों के साथ राजवन्द्य तथागत के दर्शन के लिये सभा में आई तथा बुद्ध के सामने श्रावक मण्डल में बैठ गई। आम्रपाली के अपार सौन्दर्य से श्रावक मण्डल का मन विचलित हो गया। संयम की कान्ति से देदीप्यमान बुद्ध का देहसौन्दर्य भी अनुपम था। आम्रपाली ने तथागत को निहारा तो गौतम ने भी अपने ज्ञान लोक से पवित्र नेत्र आम्रपाली पर डाले। श्रावक समूह स्तब्ध है। वह सोच रहा है आज तथागत का बुद्धत्व धूलीसात् हो गया। गौतम आम्रपाली के अनुपम सौन्दर्य से मोहित हो गया। संयम का उपदेष्टा स्वयं रूपजाल में फंस गया। सभा का विसर्जन हुआ। आम्रपाली ने रात्रिभोजन का आमन्त्रण तथागत को दिया। गौतम ने भी विना संकोच किये स्वीकृति प्रदान कर दी। वैशालीवासी ही नहीं अपितु भिक्षुक मण्डल भी हैरान है। सूरज में यह अन्धेरा कैसा। तथागत में मोह का आविर्भाव कैसे। क्या सचमुच गौतम भ्रष्ट हो गया। क्या हाथी वाला ठीक कह रहा था? शाम हुई, सूर्य अस्ताचल की ओट में हो गया। बुद्ध ने अपना भिक्षापात्र उठाया और अपने शिष्यों के साथ आम्रपाली के वैभवपूर्ण महल की ओर चल दिये। यह उलटा दृश्य देख वैशाली का प्रत्येक आदमी हैरत में पड़ गया। आम्रपाली पूर्ण शृङ्गार के साथ गौतम की प्रतीक्षा में द्वार पर खड़ी है। तथागत धीर-समीर के समान मस्ती से महल के द्वार की ओर बढ़े और ज्ञानगर्भित गम्भीर स्वर में तथागत ने कहा हे मातृशक्ति! बुद्ध तुम्हारे द्वार पर भिक्षा याचना के लिये उपस्थित है। तथागत के पवित्र अन्तःकरण से निकले शब्दों के द्वारा यथार्थ ज्ञान का प्रवाह फूट पड़ा और देहगत भौतिक सौन्दर्य की भङ्गुरता का आभास आम्र-

पाली को हो गया उसे ज्ञान का पवित्र प्रकाश मिल गया। आत्मगत वासना के काले विचारमेघ छट गये और आत्मा के क्षितिज पर पवित्रज्ञानरूपी सूर्य का कल्याणकारी प्रकाश छागया। आम्रपाली तथागत के चरणों में गिर पड़ी। कामोद्दीपक अलङ्कार तथा वस्त्र उतारकर चीर धारण कर लिया। सुन्दर तथा काले-काले बालों को स्वयं अपने हाथों काटकर भिक्षुणी बन गई। यही है वह ज्ञान तत्त्व जो शुभकर्मों के रोधक भोगभावों का नाश कर देता है। महर्षि याज्ञवल्क्य ने इसे ही 'रक्षोहा'—राक्षस हन्ता कहा है। यह रक्षोहा पवित्र ज्ञान यजुर्वेद के मन्त्रों में निहित है। वही पवित्र ज्ञान परम्परा से सन्तों के मानस पटल में प्रकाशमान रहता है। जो व्यक्ति श्रद्धापूर्वक सन्त-ज्ञानी जनों के सङ्ग में उपस्थित होता है, वह इस पवित्र ज्ञान को प्राप्त कर लेता है। पुनः उसके पापरूप राक्षसों की जड़ें शीघ्र कट जाती हैं इन्द्रियों की भोगवासना उसे शुभ कर्मरूप यज्ञ से रोक नहीं सकती। गौतम ने इस ज्ञान को धारण करके तथागत तथा बुद्ध का नाम पाया था फिर उसे रूपसी आम्रपाली के अपार सौन्दय ने थोड़ा भी विचलित नहीं किया। गौतम के मुख से निकले यजुमन्त्रों के पवित्र ज्ञान से आम्रपाली की पापवासनाएँ भी कट गईं। ज्ञान के तीक्ष्ण वाणों के सामने आम्रपाली के मनोगत राक्षस भाव टिक न सके। ज्ञानशास्त्र ने राक्षसी भावों की जड़ें काट दी और आम्रपाली वेश्या से साध्वी बन गई। उसके मन में स्थित पाप भाव सदा के लिये हत हो गये। क्षत्रियों के बाण एवं तलवार आदि अस्त्र-शस्त्र सचमुच अति स्थूल हैं। वे स्थूल शरीर को मार सकते हैं सूक्ष्म राक्षसी भावों को नहीं। यही कारण है महर्षि याज्ञवल्क्य क्षत्रियों के अस्त्रशस्त्रों की अपेक्षा ब्रह्मशस्त्र (ज्ञान रूपी हथियार) को अधिक महत्त्व देते हैं। क्योंकि यह ज्ञानशस्त्र पाप के वीज का ही नाश कर देते हैं। पाप बीज के नाश हो जाने के पश्चात् नीच कर्मों के अनुष्ठान की सम्भावना नहीं रहती। जब धरती के वासी इस ज्ञानशस्त्र से सज्जित होंगे तब धरती के विशाल अन्तरिक्ष में भय कहाँ? ज्ञानी लोगों का मन राक्षसी भावों के वशीभूत नहीं होता, फिर वह किसी का धन कैसे चुरा सकता है? वह ठगी और वञ्चना का पापकर्म कैसे कर सकता है। ज्ञान उसे सदा प्रकाश देता है। उसे सुपथ का बोध करा देता है कि सुख एवं दुःखरूपी फल तुम्हारे कर्म के द्वारा ही प्राप्त होंगे। विना पुरुषार्थ से इकट्ठा किया धन कुछ भी सुख देने वाला नहीं होगा, वह परपीड़ा से प्राप्त धन दुःख का ही निमित्त बनेगा। यह देखो एक लालाजी हैं इनके शरीर पर पट्टियाँ बन्धी हैं, पीड़ा से तड़प रहे हैं, इनके प्यारे बेटे को डाकूओं ने मार डाला और घर के तमाम धन के साथ इसकी पुत्रवधू को उठा ले गये।

बताओ ! उन्होंने जो भोले-भाले लोगों को ठगा और विपुल धन वैभव एकत्रित किया क्या उस धन से वे सुखी हो गये ? दूसरे के श्रम से अर्जित धन कभी सुख हेतु नहीं हो सकता। क्योंकि वेद का पवित्र ज्ञान कहता है सुखरूप फल केवल स्वयजन—निजशुभ कर्मों के अनुष्ठान से ही प्राप्त होगा। अतः ज्ञानी के लिये दूसरों के लाखों के सुवर्ण भूषण किस काम के, करोड़ों रुपयों के हीरे-मोती ज्ञानवान् के लिये मिट्टी से भी कम महत्त्व के हैं। पर धनलिप्सा का राक्षसी भाव केवल ज्ञान से ही नष्ट किया जा सकता है। इसलिये महर्षि याज्ञवल्क्य ने सर्वथा युक्त कहा कि राक्षसहन्ता यजुमन्त्रों का पवित्र ज्ञान है। इस यथार्थ ज्ञान के विना धरती के वासी निर्भय नहीं हो सकते, दुःख और क्लेशों से नहीं बच सकते। यह यथार्थ ज्ञान परमपिता प्रभु ने यजुमन्त्रों के द्वारा मनुष्यों को प्रदान किया है। यदि हम चाहते हैं कि दुःख से बच जायें, भय से त्राण पा जायें तो यजुओं के पवित्र ज्ञान को प्राप्त करें, ज्ञानियों का सङ्ग करें, वेदमन्त्रों के ऋषि व्याख्यानों का चिन्तन करें, और यथार्थ ज्ञान को आत्मा में नित्य प्रतिष्ठित करें, तब विशाल अन्तरिक्ष भयरहित होगा। आत्मा सत्कर्मों के अनुष्ठान में प्रवृत्त होगा। पुनः एक-दूसरे का धन हरण का भाव ही नहीं उठेगा। धरती पर स्वर्ग होगा। न कोई भूखा होगा न नंगा, फिर लूट-खसौट का प्रसङ्ग कहाँ।

ऋषिराज याज्ञवल्क्य ने ठीक कहा—

"स एतेन ब्रह्मणान्तरिक्षमनाष्ट्रं कुरुते ।।"

अर्थात् पवित्र ज्ञान के द्वारा व्यक्ति समस्त आकाश को नाशकारी, वञ्चक और घातक राक्षसीभावों से रहित कर देता है।

तृतीय पथ

दैवी प्रजा और उसकी उत्पत्ति

'कल दशरथपुत्र राम का राज्याभिषेक होगा' यह सुखद समाचार अयोध्या की गली-गली में सुनाई दे रहा है। अयोध्या के वासी अपने विनय-मूर्ति, शीलवान् योग्य राजकुमार श्रीराम के युवराज पद पर अभिषिक्त होने के समाचार को सुनकर वेहद खुश हैं। राज्याभिषेक की तैयारियाँ पूरे जोर-शोर से की जा रही हैं। अयोध्या के राजगुरु वसिष्ठ अभिषेक की विधियों को पूर्ण कराने के लिए अयोध्या में उपस्थित हो गये हैं। महर्षि वसिष्ठ भी अति प्रसन्न हैं। कल उनके प्रिय तथा विनयशील शिष्य का अभिषेक होगा। प्रतिष्ठापूर्ण इक्ष्वाकुकुल के राजसिंहासन पर श्रीराम आसीन होंगे। समस्त राजवैभव राम के लिये प्रस्तुत हो जायेगा, सैकड़ों नहीं लाखों मनुष्य राम की आज्ञा को पूरा करने में अपना सौभाग्य समझेंगे। सचमुच राम के लिए यह आकर्षक एवं मनमोहक अवसर आ रहा था। उसकी जननी कौशल्या कल सामान्य माता नहीं अपितु राजमाता होगी। राम की प्राणप्यारी जानकी कल राजमहिषी के गौरवपूर्ण स्थान पर प्रतिष्ठित होगी। सम्भवतः मनुष्य के जीवन में इससे बड़ा मंगलकारी अवसर दूसरा नहीं हो सकता। पर मन्थरा की कुटिल मन्त्रणा के फलस्वरूप कैकेयी ने ठीक कुछ समय पहले महाराजा दशरथ से वर मांग कर राम का मंगलकारी अभिषेक का कार्य ही नहीं रोक दिया अपितु राम को १४ वर्ष के लिए दण्डकारण्य का वनवास भी वर के रूप में मांग लिया। अयोध्या का सकल मंगल भङ्ग हो गया। चारों तरफ शोक के काले बादल छा गये। अयोध्या के घर-घर में खुशी के जो दीप जले थे वे बुझ गये। राजधानी के वासियों के खिले-खिलाए मानस कमलों को कैकेयी के दारुण वरों ने चकनाचूर कर दिया। कहाँ अयोध्या का राजवैभव और कहाँ भयङ्कर दण्डकारण्य! कुछ लोग रुन्धे गले से कह रहे थे हाय! अब विदेहपुत्री सीता का क्या होगा, क्या वह इतने लम्बे विरहक्लेश को सह सकेगी, या राम के साथ क्लेशपूर्ण दण्डकवन में जायेगी, नहीं नहीं वह राजवैभव में पली सुकुमार राजपुत्री भला जंगल के भयङ्कर कष्टों को कैसे सह सकेगी?

श्रीराम के वनवास का दु:खदायी समाचार सर्वत्र फैल गया । गुरु वसिष्ठ के पास भी राजपुरुष आये और कैकेयी के अनिष्टकारी वरों की सूचना दी । तत्त्ववेत्ता ऋषि स्तब्ध रह गये । वे कुछ देर अन्तर्मुखी होकर विचारों में डूब गये और सोचने लगे भौतिक ऐश्वर्य मनुष्य का चिरसाथी नहीं हो सकता । पानी के बुलबुले के समान उसके स्थायित्व पर विश्वास नहीं किया जा सकता । परमदेव परमेश्वर ने इसीलिये आत्मज्ञान का पवित्र प्रकाश वैदिक छन्दों के द्वारा मनुष्य को दिया है । जिससे मनुष्य की आत्मा में वह शुभ्र ज्ञान (Genuine Knowing) प्रकट होता है जिससे व्यक्ति राजवैभव को छोड़कर जंगल की पर्णकुटि में भी शांत और मुदित रहता है । हमने सदैव अपने अन्तेवासियों (शिष्यों) के हृदय में इस पवित्र ज्ञान को प्रतिष्ठित करने का यत्न किया है । आज पता लगेगा दशरथ के ज्येष्ठ पुत्र श्रीराम ने उस पवित्र ज्ञान को कितना आत्मसात् किया है । यह सोचकर रघुवंशियों के महान् आचार्य अपने पट शिष्य श्रीराम की अन्तिम परीक्षा लेने के लिये चल दिये । सचमुच जीवन की यह अन्तिम परीक्षा थी, जिसे गुरुदेव वसिष्ठ लेने जा रहे थे । वसिष्ठ श्रीराम के प्रासाद (महल) में पहुँचे और दूर से ही एकटक होकर श्रीराम के मुख को देखने लगे । संकट की इस प्रथम वेला (समय) में राम के आन्तरिक भावों का वे अन्वीक्षण कर रहे थे । लोगों ने कहा ऋषिराज क्या देख रहे हो ? ऋषि ने मन्द स्वर में कहा आज मैं अपने शिष्य की अन्तिम परीक्षा ले रहा हूँ । कुछ क्षण देखने के पश्चात् ऋषि के मुख से सहसा यह उद्‌गार प्रकट हुआ—

"आहूतस्याभिषेकाय विसृष्टस्य वनाय च ।
न मया लक्षितस्तस्य स्वल्पोऽप्याकारविभ्रमः ।।"

मैंने राम का मुख उस समय भी ध्यान से देखा था जब इसको राजतिलक के लिए बुलाया जा रहा था तथा इस समय भी देख रहा हूँ जब इसको वन के लिये भेजा जा रहा है । ओ अयोध्या के वासियो ! सुनो—मैंने श्रीराम के मुख पर तब और अब में कोई भेद नहीं पाया । आज मैं पूर्ण घोष के साथ कह रहा हूँ—राम ने मेरे पास छन्दों के पवित्र ज्ञान को सचमुच ग्रहण किया है । राम ने उस ज्ञान को आत्मगत किया है, जिससे व्यक्ति सदा निर्भय हो जाता है, संसार के भयानक कष्ट उसे विचलित नहीं कर सकते । आज दशरथ पुत्र श्रीराम मेरी अन्तिम परीक्षा में उत्तीर्ण है । आज का मानव राम की इस धीरता पर अविचलता पर आश्चर्य-चकित है । वह सोचता है—कौन-

सी वह चीज थी जिसने राम के मन में यह शक्ति पैदा कर दी कि राजवैभव को छोड़कर १४ वर्ष तक भयङ्कर दण्डकवन में जाने में भी उसे मनागपि (थोड़ा-सा भी) भय नहीं, क्लेश नहीं, चिन्ता नहीं। सामान्यजन तो अपने स्वल्प धन के विनाश पर भी रो पड़ता है। अपने प्रिय जनों के विरह की कल्पना से आत्महत्या तक कर लेता है। दुर्योधन ने धर्मतः राज्य के अधिकारी पाण्डुओं को हस्तिनापुर से निष्कासित करने में परम सुख समझा था, पर उसे पता नहीं भौतिक ऐश्वर्य शाश्वत् सुख का हेतु नहीं हो सकता। यह देखो कुछ दिन के पश्चात् ही अपने कुलभाईयों पाण्डुपुत्रों के इन्द्रप्रस्थ के वैभव को देखकर जल रहा है। उसको हस्तिनापुर का अपार ऐश्वर्य कुछ भी शान्ति देने में समर्थ नहीं रहा। मामा शकुनि ने कहा—'सुयोधन तू इतना दुःखी क्यों है। कौनसा क्लेश हैं जो तुझे सता रहा है। पाण्डवों ने सदा के लिये हस्तिनापुर के राज्य का अधिकार त्याग दिया अब तुम एकमात्र कुरुकुल के समृद्ध राज्य के युवराज हो फिर यह उदासी क्यों?' दुर्योधन बोला मातुल (मामा) शकुनि! राजसूय के अवसर पर क्या तुमने पाण्डुपुत्रों के ऐश्वर्य को नहीं देखा। जैसे विभिन्न देश-देशान्तरों से नदियाँ सागर में आ गिरती हैं ठीक वैसे सब देश-देशान्तरों का वैभव युधिष्ठर के पास आ गया। अद्भुत रत्नों का पहाड़ लगा वैभव मैंने जब से पाण्डु पुत्र के कोश में देखा है तब से मैं सुखी नहीं, जब से मैंने इन्द्रप्रस्थ का अलौकिक सभाभवन देखा है तब से मैं क्लेश से जल रहा हूँ। मेरी आत्मा तड़प रही है। हस्तिनापुर का राजवैभव मुझे तुच्छ लग रहा है। भरतादि प्रतापी पूर्वजों से सेवित सिंहासन मुझे शान्ति नहीं दे सकता। मेरे जैसे दुःखभोगी का जीना बेकार है।' और दुर्योधन के क्लेश भरे दिल से निकला—

"वह्निमेव प्रवेक्ष्यामि भक्षयिष्यामि वा विषम्।
अपो वापि प्रवेक्ष्यामि न-शक्ष्यामि जीवितुम्॥"*

हे मामा! अब मैं या तो आग में जल मरूंगा या जहर खा लूंगा अथवा पानी में डूबकर प्राण त्याग दूंगा, मैं अब जी नहीं सकूंगा।

दुर्योधन के इस क्लेशपूर्ण जलते मन के दृश्य को देखकर भी लोग हैरान हैं। विशाल राज्य का एकछत्र अधिकारी भी महान् दुःख से पीड़ित है। क्या इसका मन इतने विशाल वैभव से सन्तुष्ट नहीं? एक तरफ अयोध्या

---

* महाभारत सभा पर्व

के राजसी वैभव से च्युत ही नहीं अपितु नाना हिंसक जीव-जन्तुओं से पूर्ण दण्डकारण्य में जाने वाला राम अखेद (Without depression) तथा शांत गुरु के सम्मुख खडा है तो दूसरी तरफ धृतराष्ट्र पुत्र दुर्योधन प्रतिष्ठापूर्ण साम्राज्य का असन्दिग्ध उत्तराधिकारी होने पर भी परवैभव को देखकर खिन्न है, महादुःखी है और आग में जल मरने की सोच रहा है। लोगों की दृष्टि में यह अद्भुत रहस्य है। कुछ सब कुछ होने पर भी सुखी नहीं तो कुछ जीवन संग्राम में कष्टों को फूलों के समान समझकर आगे बढ़ते दिखाई देते हैं। महर्षि याज्ञवल्क्य के शिष्यों ने पूछा 'गुरुदेव ! यह कौनसा कारण है जो कुछ लोग तो दिन भर श्रम करते हुये भी, भयङ्कर जंगलों में भटते हुए भी, घोर युद्धों में जूझते हुए भी दुःखी नहीं अशान्त नहीं पर कुछ दूसरे लोग नाना सुख-साधन होने पर भी शान्त नहीं, सन्तुष्ट नहीं ?' ऋषि बोले—'इन दोनों प्रकार के लोगों के निर्माण में एक बहुत बड़ा अन्तर है।' शिष्यों ने कहा 'वह अन्तर कौनसा है ? दोनों ही तो मनुष्य देहधारी हैं, दोनों की उत्पत्ति समान रूप से होती है, पुनः इनके निर्माण में भेद कैसा ?' महर्षि ने शान्तभाव से कहा सुनो—'मनुष्यों के शरीर की उत्पत्ति निश्चित रूप से एक समान है। सभी जन माता-पिता के संयोग से शरीर पाते हैं पर याद रखो सुख-दुःख का अनुभव (Feeling) कर्त्ता शरीर नहीं अपितु आत्मा है। सुख-दुःख में सम रहना, परधन को देखकर न जलना, इन्द्रियों को अपने वश में रखने का सामर्थ्य पाना आदि दिव्यगुण शरीर के नहीं अपितु आत्मा के हैं। इन गुणों की उत्पत्ति माता-पिता के शरीर से नहीं अपितु छन्दों के पवित्र ज्ञान से होती है। इसी ज्ञान से मनुष्य देवभाव को प्राप्त करता है। देखो शतपथ ब्राह्मण का प्रवचन करते हुए हमने इस रहस्य का प्रकाशन स्पष्ट शब्दों में किया है। वहाँ हमने कहा—

द्वय्यो वा इमाः प्रजा दैव्यश्चैव मानुष्यश्च। ता वा इमा मानुष्यः प्रजाः प्रजननात् प्रजायन्ते। छन्दांसि वै दैव्यः प्रजाः। तानि मुखतो जनयते तत एतं जनयते।*

अर्थात् प्रजाएँ दो प्रकार की हैं। दैवी प्रजा तथा मानुषी प्रजा। मानुषी प्रजा माता तथा पिता के संयोग से उत्पन्न होती है। दैवी प्रजा शरीरधारी नहीं अपितु छन्द=ज्ञान रूप है। इस ज्ञान रूपी दैवी प्रजा की उत्पत्ति माता-पिता के शरीर से नहीं अपितु आचार्य के मुख से होती है। आचार्य के मस्तिष्क

* मा. श. ११-५-४-१७

में वेदों के पवित्र छन्दों का ज्ञान गुरु परम्परा से आगत है। उसी छन्दोज्ञान को आचार्य अपने मुख से शिष्य के मस्तिष्क में उत्पन्न करता है। इसी दिव्य ज्ञान से दिव्य गुणों का प्रादुर्भाव होता है तथा उन्हीं गुण शक्तियों से व्यक्ति श्रेष्ठकर्मरूप यज्ञ का अनुष्ठान करता है। जो मनुष्य केवल माता-पिता के शरीर-सम्बन्ध से जन्म लेकर छन्दोज्ञान को आचार्य मुख से ग्रहण नहीं करते वे केवल मानुषी प्रजाएँ हैं। उनका शरीर तो मनुष्यों जैसा है पर छन्दोज्ञान के अभाव में देवत्व से शून्य रह जाता है। उनका जन्म पशु तुल्य है। जैसे पशु केवल नर-मादा के संयोग से जन्म पाता है पर छन्दोज्ञान को धारण नहीं करता। अतः वह पशुपने से आगे नहीं बढ़ता। वे केवल अपने भोग तक सीमित हैं।

इसी प्रकार पवित्रज्ञान से शून्य मनुष्य अपने सुख भोग तक चेष्टाशील रहता है। जैसे चार कुत्तों के बीच में डाले रोटी के टुकड़े को बलवान् कुत्ता खा लेता है और दूसरे कुत्ते बेचारे देखते ही रह जाते हैं। उसी प्रकार मानुषी प्रजा अपने स्वार्थ की सिद्धि में संलग्न रहती है। बलवान् कमजोरों का भाग छीन लेता है तो चालाक नासमझों को ठग कर अपना स्वार्थ सिद्ध कर लेता है। मानुषी प्रजाओं के स्वार्थों का अन्त नहीं, भोग पाकर वासना और अधिक बढ़ जाती हैं। दुर्योधन हस्तिनापुर के वैभवपूर्ण राज्य को पाकर भी स्वार्थ शून्य नहीं हुआ। पाण्डुओं के वैभव को देखकर छटपटा गया। जिसका परिणाम महाविनाश के रूप में सारे जगत् ने देखा। छन्दोज्ञान से शून्य मानुषी प्रजा नाना तृष्णाओं के वशीभूत होकर एक दुःख से छूटकर दूसरे दुःख को पाती रहती है। लूट-खसौट मार-काट का भयङ्कर दृश्य मानुषी प्रजाओं में निश्चित रूपेण दिखाई देगा। इसके विपरीत दैवी प्रजा की उत्पत्ति गुरुओं के पवित्र मन्त्रज्ञान से होती है। वह पवित्र ज्ञान परमात्मा ने मनुष्य के कल्याण के लिये वेदों के मन्त्रों के द्वारा प्रदान किया। देवभाव का चाहने वाला व्यक्ति गुरुचरणों में बैठकर उसे ग्रहण करता है। जो व्यक्ति छन्दोज्ञान का धारण करता है उसमें दिव्यगुणरूप दैवी प्रजा जन्म लेती है। ऐसे दिव्यगुण सम्पन्न विद्वानों को भी ऋषियों ने देव कहा है।

देखो ! वेदों के गायत्री छन्दों के पवित्र ज्ञान से ब्राह्मण का देवभाव निर्मित होता है। इस देवभाव को प्राप्त करने वाला ब्राह्मण पर्णकुटि में भी सुखी है, शान्त है। जिस सुख को राजमहलों में पाना सुकर नहीं उसे यह गायत्री के ज्ञान से सम्पन्न ब्राह्मण परिग्रहशून्य कुटि में प्राप्त करता है। कह

कुम्भी धान्य* होकर भी अपने को धन्य समझता है। क्योंकि वह जानता है जो ज्ञानधन मैंने प्राप्त किया है वह जीवन की सर्वोत्कृष्ट अमूल्य निधि है। संसार का भौतिक ऐश्वर्य तो आज है कल नष्ट हो सकता है। राजभोगी लोग दर-दर के भिखारी बनते देखे गये हैं। फिर मृत्यु समय आने पर तो कणिका तक भी साथ नहीं ले जा सकता। इन्द्रियों का विषयभोग भी अन्त में दुःखपरिणामी ही देखा गया है। गायत्री के पवित्र छन्दों से देवभाव को प्राप्त हुआ ब्राह्मण तुष्ट है। मुदित है, उसका ज्ञानधन चुराया नहीं जा सकता। दुष्टों से छीना नहीं जा सकता, मरते समय भी वह उसका साथ नहीं छोड़ता वस्तुतः यही सच्चा धन है। राजा महाराजा धनी श्रेष्ठी इस ब्राह्मण देवता के चरणों में अपना सिर झुकाने में ही कल्याण समझते हैं। वे जानते हैं इसकी वाणी से निकला ज्ञानरस जीवन में शान्ति का शीतल प्रवाह बहा देने में समर्थ है। इसकी वाक् शक्ति बड़े से बड़े अस्त्र-शस्त्र से अधिक प्रभावशाली है।

वेद के त्रिष्टूप् छन्दोज्ञान से क्षत्रिय देवभावों की उत्पत्ति मानव मस्तिष्क में होती है। सच्चे क्षत्रिय की उत्पत्ति माता-पिता के मिलने से नहीं अपितु गुरुमुख से वैदिक ज्ञान के अधिगमन से होती है। वैदिक ज्ञान से शून्य बलवान् योद्धा क्षत्रिय मनुष्य की आकृति में क्रूर हिंसक जानवर है। उसकी आत्मा कभी तृप्त नहीं होती। सैंकड़ों कामिनियाँ भी उसकी काम-तृष्णा को शान्त नहीं करतीं। निर्बलों का रक्तपान करके भी उसकी भूख नहीं मिटती। उसके अस्त्र-शस्त्र तथा बल अन्त में उसके महाविनाश का ही कारण सिद्ध होते हैं। इसके विपरीत वेद के पवित्र त्रिष्टुप् छन्दोज्ञान से सम्पन्न क्षत्रिय राज्यश्री का सेवन स्वभोगवासना की तृप्ति के लिये नहीं अपितु अपनी प्रजा को सुखी करने के लिये करता है। भोगभाव रूपी असुरभाव मन्त्रों के पवित्र ज्ञान से मिट जाते हैं। अतः धन वैभव का लाभ या हान उसे खिन्न नहीं करता वह अखेद होकर अपने कर्त्तव्य-रण में अवस्थित रहता है। यही कारण है श्रीराम बनवास की घोषणा को सुनकर खिन्न नहीं हुआ। उसने अपने क्षत्रियधर्म के साधनभूत धनुष को उठाया है और खुशी-खुशी जंगल की ओर चल पड़ा। वह दुःखी नहीं था, अपितु खुश था, क्योंकि उसे अपने देवभाव को सफल करने के लिये एक विशाल कर्मक्षेत्र प्राप्त हो रहा था वह नरभक्षी प्रजापीड़क राक्षसों को मारकर अमरकीर्ति के लाभ की आशा से मुदित था। वह

* केवल घडा भर अन्न रखने वाला

खुश था क्योंकि वह अन्याय को दूर करके पुण्यलाभ करने के लिये जा रहा था।

राम के प्रिय जन उसे वन में जाने से रोक रहे हैं। कैकेयी के पुत्र भरत ने भी अपने पितृसम धर्मात्मा भाई को वापिस लाने के लिये प्रायोपवेशन (भूख हड़ताल) करने की घोषणा कर दी पर राम अपने कर्त्तव्य पर अटल है। यदि चाहता तो वनवास के भयङ्कर कष्टों से बचकर अयोध्या का राजैश्वर्य भोग सकता था पर फिर यह यावत् शशि दिवाकर*-सी अमरता न मिलती। वाल्मीकि जैसे महान् ऋषि राम पर काव्य लिखने का उद्योग न करते और यथार्थता यह है कि रावण सदृश मुनिजनपीड़क दुष्ट का संहार करके राम फिर महान् पुण्य को कैसे प्राप्त करते। राम के मस्तिष्क में वर्तमान पवित्र मन्त्रज्ञान उसे अपने कर्त्तव्य की सतत प्रेरणा दे रहा था। राम को अपने कर्त्तव्यपालन में दुःख नहीं अपितु तोष था, मोद था। यही कारण है कि राम को अयोध्या की अपेक्षा दण्डकारण्य-गमन के प्रति अधिक आकर्षण था। राम को यह देवभाव गुरु वसिष्ठ के आश्रम में छन्दों के यथार्थ ज्ञान से प्राप्त हुआ था। इसी प्रकार वेद के जगती छन्द के पवित्र ज्ञान से वैश्यदेवभाव को प्राप्त होता है। जिस वैश्य का निर्माण इस छन्द से नहीं हुआ वह वैश्य नहीं, लुटेरा है वञ्चक है। वह मूढ भोले-भाले लोगों को ठगकर अपना घर भरने में कल्याण और सुख समझता है पर उसे पता नहीं इसका परिणाम सुख नहीं महान् दुःख होगा। यह देखो इस धनी को। इस महानुभाव ने छल के बल से अपार धन कमाकर खूब मौज उड़ाई मन भाये मिष्टान्न खाये, कीमती से कीमती सिगरेटों का स्वाद लिया, गरीबों के खून पसीने की कमाई को भोग विलास में उड़ाकर यह अपने को चतुर तथा बुद्धिमान् समझता है। पर एक दिन आया पापवृक्ष के जहरीले फल प्रकट हुये। दारुण रोग ने घेर लिया। डाक्टर के पास गया तो उसने कहा मधुमेह (Diabetes) तथा हृदयरोग है मीठे गरिष्ठ और नमकीन पदार्थ खायेगा तो शीघ्र मर जायेगा। सेठजी का दिल टूट गया— हाय! ४५ वर्ष की इस थोड़ी-सी आयु में यह क्या हो गया? सब कुछ घर में है पर सेठजी तरस-तरस कर क्लेश पा रहे हैं। इधर दूसरा देवभावों से युक्त श्रेष्ठी पुत्र है यह सच्चा वैश्य है। यह भोले-भाले लोगों को नहीं ठगता परिश्रम और बुद्धि से न्याय पूर्वक व्यापार तथा कृषि कार्य कराता है। आवश्यक खर्च से बचे धन को सेवा में लगाता है। कहीं अपने देश बन्धुओं के लिये

* सूर्य और चन्द्रमा

प्याऊ लगाता है तो कहीं इसके पवित्र धन से गरीब बालकों को शिक्षा दी जाती है। इस छन्दोज्ञान से सम्पन्न वैश्य का मन सर्वदा वश में रहता है। यह अनावश्यक भोग में लिप्त नहीं होता। प्रातः समय पर उठता है और उद्यान में जाकर व्यायाम करता है। वह ईश्वर से अपने धर्म पर अडिग रहने की शक्ति की नित्य याचना करता है। इसका शरीर स्वस्थ और मजबूत है। चारों तरफ लोग इसके पुण्यगीत गाते हैं और कहते है यह मनुष्य नहीं देवता है। इसका जीवन धन्य है। इसके घर में परस्पर प्यार है, स्नेह है, वृद्ध ज्येष्ठों का सम्मान है, सचमुच इसके घर में स्वर्ग है।

यह सब सच्चे ज्ञान का उत्तम प्रभाव है। यह पवित्र ज्ञान जीवन के प्रथमवय (Age) में ग्रहण करने योग्य है। तभी जीवन का कल्याण है। इसलिये विचारवान् मनुष्य अपनी सन्तान को ज्ञानी जनों के आश्रम में भेज देते हैं। वहाँ गुरु के आश्रमरूपी गर्भ में देवत्व का निर्माण पवित्र ज्ञान से होता है। जैसे माता के गर्भ में मानुषरूप का सम्यग् विकास होता है। हाथ पैर आँख कान आदि सब अङ्ग प्रत्यङ्ग सुन्दर रूप में निर्माण को प्राप्त होते हैं ठीक उसी प्रकार गुरुगर्भ में उसके समस्त दिव्यभावों का, उत्तमगुणों का विकास होता है। मन्त्रों के पवित्र ज्ञान के द्वारा गुरु समग्र देवभाव का उत्पादन शिष्य की आत्मा में करता है। इसलिये हमने कहा "तं मुखतो जनयते" दैवी प्रजा की उत्पत्ति आचार्य अपने मुख से करता है। इतना कहकर गुरुदेव याज्ञवल्क्य ने अपने वक्तव्य को विराम दिया तो एक शिष्य ने विनयपूर्वक प्रश्न किया—'आचार्यपाद ! गुरुगृह में देवभाव का निर्माण होता है यह ठीक है परन्तु बहुत से लोग उत्तम ज्ञान का श्रावण करके भी राम जैसे देव नहीं बनते ? ऋषि ने कहा—'ठीक है कुछ लोग गुरुगृह में निवास करके भी देवत्व का लाभ नहीं करते। देखो हमने शतपथ ब्राह्मण में दैवी प्रजा की उत्पत्ति के प्रसंग से ठीक पहले लिखा है—

गर्भो वा एष भवति यो ब्रह्मचर्यमुपैति*

जो ब्रह्मचर्य-ज्ञान की प्राप्ति करना चाहता है उसे गर्भ के समान होना पड़ेगा। जिस प्रकार माता के गर्भ में शिशु सर्वतोभावेन अपनी माँ से जुड़ा रहता है ठीक उसी तरह जो ज्ञानार्थी आचार्य से जुड़ जाता है। देवत्व की प्राप्ति की कामना से पूर्ण श्रद्धा के साथ जो जिज्ञासु-छात्र गुरु से बन्ध जाता है, वह निश्चित रूप से वेदों के पवित्र ज्ञान को पाकर देवत्व का लाभ कर लेता

---

* मा. श. ११-५-४-१६

है। प्रिय शिष्यो ! देखो प्राचीन ऋषियों ने कितने विश्वस्त शब्दों में गान किया है—

आचार्यो गर्भो भवति हस्तमादाय दक्षिणम् ।
तृतीयस्यां स जायते सावित्र्या स ब्राह्मणः ।।*

अर्थात् आचार्य सर्वप्रथम ज्ञानार्थी का हाथ पकड़कर उसे अपने उदर में कर लेता है और तीन दिन के पश्चात् वह बालक सावित्री-गायत्री छन्द के साथ ब्राह्मण होकर, देवत्व का धारक होकर उत्पन्न होता है। भाव यह कि आचार्य को सबसे पहले शिष्य की आत्मा में देवत्व का बीज पवित्रज्ञान स्थापित करना चाहिये। उसको गर्भस्थशिशु के समान अपने पवित्रज्ञान के साथ जोड़ना चाहिये। जो बालक आचार्यकुल में प्रविष्ट होकर भी आचार्य का गर्भ नहीं बना, सर्वतो भावेन पवित्रज्ञान के साथ सम्बद्ध नहीं हुआ उसे देवत्व का लाभ भला कैसे हो सकता है। यह भी ध्यान में रखना आवश्यक है कि माता के गर्भ में बालक रसवाहिनी नाडियों के द्वारा माता से जुड़ा रहता है और माता के द्वारा रस प्राप्त करके शरीर के पूर्ण विकास को प्राप्त होता है। यदि माता के शरीर में ही रस नहीं तो क्या बालक के शरीर का विकास होगा ? इस प्रकार गुरुगर्भ में आगत बालक जिज्ञासाभाव की पवित्र डोरी से अपने आचार्य के साथ जुड़कर छन्दों के पवित्रज्ञान का ग्रहण करता है। यदि आचार्य के पास वह पवित्र ज्ञान नहीं तब भी बालक को देवत्व का लाभ नहीं हो सकता। अतः देवत्व से सम्पन्न गुरु के साथ ही जुड़ने से देवभाव की प्राप्ति होगी। जिस प्रकार माता के गर्भ में शिशु बाह्यजगत् से पराङ्‌मुख रहता है उसी प्रकार जब बालक ज्ञानवान् गुरु के पवित्र ज्ञान के ग्रहण में ही दत्तचित्त हो जाता है उसके मस्तिष्क की सब शक्तियाँ गुरुगत ज्ञान के ग्रहण में केन्द्रित हो जाती हैं तब निश्चितरूप से दिव्यज्ञान का प्रकाश बालक के मस्तिष्क में होगा। अतः आचार्य का सबसे पहला कर्त्तव्य है कि वह शिष्य के अन्दर जिज्ञासाभाव उत्पन्न करे, जिससे उसका मन इधर-उधर से हटकर ज्ञानग्रहण करने में बन्ध जाये। जिस बालक का मन इधर-उधर भागता है वह गुरुगृह में वास करता हुआ भी सचमुच आचार्य का गर्भ नहीं है। देखो ! गर्भ शब्द का अर्थ है ग्रहण करने वाला माता के उदर में पलने वाला शिशु क्योंकि वह प्रतिपल प्राणवायु तथा रसों को ग्रहण करता है इसीलिये वह गर्भ कहलाता है। ठीक ऐसे ही जो बालक पवित्र

---

* मा. श. ११-५-४-१२

मन्त्रज्ञान के ग्रहण में संलग्न है वही सच्चा गुरु का गर्भ है। वह निश्चित रूप से पवित्रज्ञान का लाभ करके देव बन जाता है।

इस प्रकार मनुष्य जाति के दो भेद हो गये। एक वे जिनका केवल माता-पिता के संयोग से जन्म हुआ और पवित्र ज्ञान को जिन्होंने ग्रहण नहीं किया। ऐसे जन केवल शारीरिक भोगों तक सीमित रहते हैं। उनका सारा ज्ञान अपने भोगभावों की प्राप्ति करने के लिये रहता है। ऐसे लोग दण्ड के भय से मर्यादा में रहते हैं अन्यथा ये पापाचरण में झट प्रवृत्त होकर आसुर भाव को प्राप्त हो जाते हैं। फिर ये दुर्बलों का शोषण करने में संकोच नहीं करते। सीधे-सीधे जनों को लूटने में ये नहीं चूकते। दूसरे वे देवजन हैं जिनकी आत्मा में मन्त्र का पवित्र ज्ञान है। वह पवित्र ज्ञान उनको सदा सन्मार्ग पर चलाता है। उन्हें भोगवासनाओं से बचाता है। अपने कर्त्तव्य का बोध कराता है। राम इसी कोटि के देवपुरुष थे अतः उन्हें भोगभाव आकर्षित नहीं कर सके।

श्री राम का निर्माण केवल माता-पिता के शरीर सम्बन्ध से नहीं हुआ था। राम में देवत्व की उत्पत्ति का कारण गुरुजनों का पवित्र ज्ञान था। इस प्रकार मानुषी प्रजा तथा दैवी प्रजा की योनि (उत्पत्ति का कारण) सर्वथा भिन्न है। देखो हमने शतपथ ब्राह्मण में इन दोनों की योनियों का भेद स्पष्ट शब्दों में कहा है —

द्वौ योनी इति ब्रूयात्। देवयोनिरन्यः, मनुष्ययोनिरन्यः।
प्राचीनप्रजनना वै देवाः प्रतीचीनप्रजनना मनुष्याः।*

अर्थात् निश्चित रूप से दो योनियाँ हैं, ऐसा ही कहना चाहिये। देवों की उत्पत्ति का कारण भिन्न तथा मनुष्यों की उत्पत्ति का कारण दूसरा है। देव मुख से उत्पन्न होने वाले हैं अर्थात् ज्ञान की प्राप्ति आचार्य के मुख से निकले पवित्र मन्त्र से होती है। यथार्थज्ञान श्रेष्ठ गुणों का जनक है। यही गुण-शक्तियाँ परोपकारात्मक यज्ञकर्म के अनुष्ठान में मनुष्य के शरीर को उद्यत करती हैं। इसके विपरीत मनुष्य के शरीर की उत्पत्ति माता के उदर से होने के कारण यह मनुष्य देह प्रतीचीन = नीचे से उत्पन्न होने वाले हैं। पवित्रज्ञान से शून्य देह आसुरभावों का शिकार होकर नीचकर्मों में प्रवृत्त हो जाता है जबकि देवभावों से युक्त पुरुष का शरीर देवशक्तियों के प्रेरणानुसार कार्य करता है। इसलिये हमने शतपथ ब्राह्मण में अनेकत्र संकेत किया है—

* मा. श. ७-४-२-४०

यथा वै देवानां चरणम् । तद्वा अनु मनुष्याणाम् ।*
देवानां वै विधामनु मनुष्याः ।**

अर्थात्—आत्मा में स्थित देवों के (ज्ञानप्रोद्भूत दिव्य गुणों के) अनुकूल ही मनुष्य का आचरण होता है। इसलिये देवभावों की प्राप्ति आवश्यक है। जो आचार्य अपने शिष्यों में पवित्रज्ञान का आधान न करके उन्हें भौतिक विद्या का पाठ पढ़ाता है वह देव नहीं अपितु राक्षस तैयार करता है। ऐसे जन अपनी शारीरिक इच्छाओं की पूर्ति के लिये नीच से नीच कर्मों में प्रवृत्त हो जाते हैं। जिसका फल महादुःख के रूप में संसार भोगता है। अतः देवत्व के विना इस लोक में भी सुख-शान्ति नहीं हो सकती, मरने के बाद की बात छोड़ो।

---

* मा. श. ३-४-१-५
** मा. श. ६-७-४-९

चतुर्थ पथ

देवों की सुखपरिणामी विजय का रहस्य

ये महात्मा गांधी हैं। इनके पास न हथियार है न फौज। पर आज इन्होंने घोषणा कर दी अंग्रेजो! भारत छोड़ो। अंग्रेज विशाल साम्राज्य के अधिपति हैं। नाना प्रकार के संहारकारी अस्त्र-शस्त्रों के बहुत बड़े भण्डार इनके पास हैं। सर्वथा सुशिक्षित विशाल सेना इनके पास है। अशस्त्रधारी गांधी ने इनके विरुद्ध युद्ध की घोषणा की है। दुनियाँ के लोग आश्चर्य-चंकित हैं। वे सोचते हैं भला शक्तिशाली अंग्रेजों को अकिञ्चन गांधी कैसे भारत से निकाल सकते हैं। परन्तु जब महात्माजी से पूछा तो वे पूर्ण विश्वास के साथ बोले—'हमें विजय अवश्य मिलेगी। अंग्रेज एक दिन जरूर भारत छोड़कर चले जायेंगे।' सचमुच एक दिन आया अंग्रेज हार गये। उनका हौसला टूट गया और वे अपनी विशाल सेना को लेकर अपने देश चले गये। इस घटना से दुनियाँ के लोगों के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। भारत ने बिना लड़ाई के, बिना अस्त्रशस्त्रों के अपने शत्रुओं को खदेड़ दिया। चिरकाल से खोई आजादी को बिना युद्ध के प्राप्त कर लिया। परन्तु जब चिन्तकों ने सूक्ष्मता से विचार किया तो पता चला कि अंग्रेजों ने भी भारत को अस्त्र-शस्त्र तथा सेनाबल से नहीं जीता था। जब भारत को अधीन कर रहे थे तो उनके पास कोई बड़ी सेना नहीं थी। न अस्त्र-शस्त्रों में ही वे भारत से आगे थे। पर कुछ ही वर्षों में थोड़े से अंग्रेजों ने विशाल भारत को अपना गुलाम बना लिया। किस बलबूते पर,—विचार कीजिये।

इधर देखिये ये युद्ध से बचे थोड़े से राजपूत सरदार अपने महाराणा के सामने सिर झुकाये बैठे हैं। चित्तौड़ के राणा चुप हैं। विजय का उपाय नहीं सूझता। अब चित्तौड़ को वापिस जीत लेने का कोई लक्षण नहीं दीखता। अकबर बादशाह का विशाल साम्राज्य है। उसके पास लाखों सैनिकों की विशाल सेना है। राणा के मुट्ठीभर ये सरदार अब क्या कर सकेंगे। खाने के

लिये अन्न-सामग्री नहीं। सुरक्षा के लिये कोई दुर्ग नहीं। वप्पा रावल का ऐतिहासिक दुर्ग हाथ से निकला गया। राणा ने मौन तोड़ा और वेदनापूर्ण हृदय से कहने लगे—मेरे वीर सरदारो! लड़ाई में हम हार गये। सेना का बहुत बड़ा भाग युद्ध में काम आ गया। मुगलों ने हमारे दुर्ग को अपने अधिकार में कर लिया। मेरा सर्वस्व हरण हो चुका है। अब मेवाड़ का राणा अपना पेट भरने के लिये भी मजबूर है। अब वह तुम्हारा पेट नहीं भर सकता। वह अब अपने वीर सरदारों को भूखे-प्यासे देखना नहीं चाहता। मेरे सरदारो! जिसका जहाँ पेट भर सके वहाँ चले जाओ। बस अब तुम्हारे राणा का यही अन्तिम निर्देश है। अपने राणा के वेदनाभरे निर्देश वाक्य को सुनकर राजपूत सरदार चुप रह गये। उनमें से एक सरदार ने अपनी तलवार म्यान से निकाली और अपने राणा के हाथ में देकर बोला—महराज इस तलवार से मेरा सिर काट दो। मैं आपत्ति में पड़े अपने महाराज को छोड़कर कहीं नहीं जा सकता। सरदार ने यह कहकर अपना सिर राणा के सम्मुख झुका दिया। इसी प्रकार दूसरे तीसरे तथा सभी सरदारों ने अपनी तलवार अपने राणा के सामने डालकर अपना सिर झुका दिया। सभी सरदारों ने एक स्वर में कहा महाराज अब हम कहीं नहीं जाना चाहते। आप हमारी गरदन को धड़ से अलग करके हमें पाप से बचाइये। पराजित राणा की आत्मा में नई चेतना आ गई। उसका हिम्मत खोया हुआ दिल साहस से भर गया। राणा ने तलवार को पकड़ कर प्रतिज्ञा की कि—वीर बप्पा रावल का वंशज, महायोद्धा राणासाङ्गा का पौत्र जब तक मुगलों को युद्ध में हराकर अपने चित्तौड़ को वापिस नहीं जीत लेगा तब तक राजशय्या पर नहीं सोयेगा, वह सोने-चांदी के मूल्यवान् बरतनों में भोजन नहीं, करेगा, महलों में वास नहीं करेगा। राणा की घोर प्रतिज्ञा का वज्रघोष मेवाड़ के घर-घर में गूंज गया। लाखों लोगों ने अपने महाराणा के पथ का अनुसरण किया। धनियों ने अपना धन राणा के चरणों में समर्पित करके भोग-विलास को तिलाञ्जलि दे दी। यह देखो आज मेवाड़ के महाश्रेष्ठी ने अपना अपार वैभव अपने प्रतापी राणा के चरणों में सौंप दिया। जंगली भील भी पीछे नहीं रहे, अपने धनुष वाण लेकर राणा की सेना में लड़ने-मरने के लिये सम्मिलित हो गये। इतिहास के पृष्ठ साक्षी हैं। मेवाड़ाधिपति राणा प्रताप ने मुगलों को कैसी टक्कर दी थी। संसार का इतिहास इस प्रकार के उदाहरण से भरा पड़ा है। महाविद्वान् महर्षि याज्ञवल्क्य से एक बार लोगों ने इन विजयों का रहस्य जानना चाहा। लोगों ने पूछा महर्षे। क्या बात है बड़े-बड़े साम्राज्य

छिन्न-भिन्न हो जाते हैं तो छोटे से कुल में जन्मे लोग भी विजयश्री का शीघ्र आलिङ्गन कर लेते हैं ? महर्षि ने कहा सनो—

यज्ञेन वै देवा इमां जितिं जिग्यु र्येषामियं जितिः ।*

देवजनों को जो भी विजय लाभ होता है उसका कारण केवल यज्ञ है। यज्ञ के बल पर ही दिव्यगुणशाली लोग, जीत पर जीत हासिल करते हैं। बस समझ लो जहाँ जीत है वहाँ उसके मूल में यज्ञ अवश्य है। जो याज्ञिक है वही देव है, जो यज्ञ से शून्य है वह मनुष्य है। वह विजय नहीं, पराजयों का मुंह देखता है। यज्ञशून्य जनसमुदाय स्वातन्त्र्य सुख नहीं अपितु परतन्त्रता का महान् क्लेश भोगता है। जिज्ञासुजनों ने विनयपूर्वक पूछा—'महर्षे ! सब विजयों का कारणभूत यज्ञ क्या है ?'

ऋषि बोले 'भद्रो ! यज्ञ का भाव बहुत ऊँचा है। वेदों का समस्त अर्थ यज्ञ में ही चरितार्थ होता है।' यही कारण है बहुत से ऋषियों ने सघोष कहा है कि वेदों का प्रकाश यज्ञों के लिये हुआ है। जो लोग यज्ञ की वास्तविकता को नहीं समझते वे इस ऋषि-प्रतिज्ञा को अन्यथा मानते हैं। सच्चाई यह है कि यज्ञ शब्द समस्त वेदार्थ का वाचक एक महान् अर्थ का धारक शब्द है। देखो—इतरा देवी के पुत्र महर्षि महीदास ने ऋग्वेद का व्याख्यान करते हुए अपने ब्राह्मण में स्पष्ट शब्दों में कहा है:—

ब्रह्म वा एष प्रपद्यते यो यज्ञं प्रपद्यते ।**

अर्थात् जो यज्ञ का प्रापण (लाभ) करता है वह सचमुच ब्रह्म-वेद को ही प्राप्त करता है। यथार्थ में वेद ही यज्ञ का मूल है। हमने भी इस रहस्य का प्रतिपादन अपने ब्राह्मण में एकाधिक बार किया है—

एतावान् वै सर्वो यज्ञो यावानेष त्रयो वेदः***

अर्थात् ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद के मन्त्रों का जितना तात्पर्य है उतना ही यज्ञ है। बात यह है कि जब व्यक्ति मंत्र के भावों के अनुसार कर्म को करता है तो वह कर्मानुष्ठान ही यज्ञरूप होता है। जो जन मन्त्रभाव के अनुसार शुभकर्मरूप यज्ञ का अनुष्ठान करते हैं वे मनुष्य नहीं अपितु देव कहलाते हैं। मंत्रज्ञान से शून्य जन यज्ञ का अनुष्ठान नहीं कर सकते। ऐसे ही जन हार का मुंह देखते हैं। विजयश्री इनसे दूर रहती है। ऋषि से लोगों ने

---

* मा. श. ३-४-३-१५

** ऐ. ब्रा. ७-४-४

***मा. श. ५-५-५-१०

पुनः पूछा—'महर्षे ! वैदिक लोग प्रति-दिन अग्निहोत्र, अमावास्या को दर्शेष्टि, पूर्णमासी के दिन पूर्णमासेष्टि, ऋतु-सन्धियों में चातुर्मास्य नामक यज्ञ, प्रत्येक वसन्त में बड़े-बड़े सोमयागों का अनुष्ठान करते हैं। क्षत्रिय राजा भी राजसूय तथा अश्वमेधों का अनुष्ठान करते हैं। महर्षे ! हमारी बुद्धि में यह नहीं बैठता कि इन यज्ञों से व्यक्ति किस प्रकार विजयलाभ कर सकता है, स्वर्ग को प्राप्त कर सकता है, प्रजा, पशु एवं श्री का लाभ कर सकता है ? आप सब ऋषियों ने अपने वेद—व्याख्यान रूप ब्राह्मण ग्रन्थों में इन यज्ञों का बड़ा विस्तृत वर्णन किया है इनके बड़े-बड़े फलों का विश्वासपूर्वक कथन किया है। हमने एक बार कुछ ऋत्विक—यज्ञ कराने वालों से पूछा—'भद्रो ! जो फल शास्त्र में यज्ञों के बताये हैं क्या वे फल यजमान को प्राप्त होंगे ? ऋत्विक बोले—'यज्ञ का फल जरूर मिलेगा, श्रुतिवाक्य कभी मिथ्या नहीं हो सकते।' जब हमने कहा 'हे ऋत्विग् गण ! हमें तो कभी इन यज्ञों के फल का लाभ दिखाई नहीं दिया।' ऋत्विक बोले 'भद्र ! फल इस जन्म में नहीं, मरने के बाद स्वर्ग के रूप में मिलेगा।' ऋषि बोले—'शास्त्र के तत्त्व को ये याज्ञिक ऋत्विज् नहीं समझते। इन्होंने शास्त्र के भावों को समझने का श्रम गुरुचरणों में बैठकर नहीं किया। देखो किसी भी वेदव्याख्यान के कर्त्ता ऋषि ने नहीं लिखा कि यज्ञों का फल मरने के पश्चात् मिलता है। अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध पर्यन्त सब यज्ञ मनुष्य के जीवन में करने योग्य श्रेष्ठ कर्मों के ही नाम हैं। याज्ञिक ब्राह्मण जिन यज्ञों का अनुष्ठान कराते हैं यथार्थ में वे वेदमन्त्रों के भावों को प्रकाशित करने के प्रतीक (Symbols) रूप हैं। जैसे ध्वज किन्हीं प्रेरक भाव का प्रकट करने वाला प्रतीक (चिह्न-Symbole) हैं, वैसे अग्निहोत्रादि के समस्त क्रियाकलाप मन्त्रों के सूक्ष्म भावों को प्रकाशित करने वाले प्रतीक रूप हैं। देखो हमने अपने ब्राह्मण में बहुबार यह निर्देश दिया है—

तस्यैतद् रूपं क्रियते।*

अर्थात् मन्त्र के पवित्रभावों को प्रकट करने के लिये यह याज्ञिक कर्मकाण्ड कल्पित किया है। प्रतीकरूप याज्ञिक कर्मकाण्ड के अनुष्ठान का तात्पर्य यही है कि लोग मन्त्रों के सूक्ष्मभावों को समझ जायें तथा तदनुसार कर्म करके वास्तविक यज्ञ का अनुष्ठान करें। जो व्यक्ति मन्त्रभावों को ग्रहण नहीं करता उसे शास्त्र में कथित उत्तम फलों का लाभ कभी नहीं हो सकता। सच्चा यज्ञ तो मन्त्र-प्रेरणा के अनुसार कर्म करना है। जो व्यक्ति इस मंत्रबोधित

* मा. श. ७-१-२-९

यज्ञ का अनुष्ठान करता है वह निश्चितरूप से शास्त्र में कहे फल को पाता है। देखो पुराकाल में महर्षि वाल्मीकि ने राम के उत्तमचरित्र का वर्णन रामायण में किया है। जो लोग रामायण को पढ़कर राम के पवित्र चरित्र को धारण करते हैं, वे लोग निश्चितरूपेण उत्तम फलों को परजन्म में नहीं इसी जन्म में प्राप्त करते हैं। उसी राम के पावन चरित्र को लोक हित कामी विद्वान् अभिनय का रूप देते हैं। वे राम के उच्च चरित्र को जन-जन में प्रचारित करने का रोचिष्णु उपाय करते हैं। राम के चरित्र को प्रत्यक्ष देखकर सामान्यजन भी पवित्र भावों को ग्रहण कर लेता है। उसी प्रकार मन्त्रार्थ के ज्ञाता, ऋषियों ने मन्त्रभावों को यज्ञिक कर्मकाण्ड के अभिनय द्वारा प्रकट किया है। देखो पूर्णमासी के दिन जिस यज्ञ का अनुष्ठान किया जाता है, उसमें पुरोडाश नाम की हवि अग्नि में प्रदान की जाती है। पुरोडाश चावल या यव (जौ) को पीस कर बनाया जाता है। हमने पूर्णमासेष्टि के व्याख्यान प्रसङ्ग में स्पष्ट बता दिया है कि यह पुरोडाश मस्तिष्क का प्रतीक है। बालक के मस्तिष्क का निर्माण सबसे प्रथम माता-पिता के ज्ञानकणों से होता है। वे ज्ञानकण श्रेष्ठ-कर्मरूप यज्ञ के रोधक राक्षसी भावों से रहित होने चाहिये। इसी मन्त्रभाव का प्रकाश पूर्णमासेष्टि में व्रीहि (धान) के तुषों (छिलकों) को दूर करके प्रकट किया जाता है। जिस प्रकार छिलके सहित चावलों का भोजन अनिष्टकारी है ठीक इसी प्रकार भ्रान्तिपूर्ण दूषित ज्ञान से निर्मित मस्तिष्क निश्चितरूप से श्रेष्ठकर्म में बाधक होगा। इसलिये देखा होगा याज्ञिक छिलकों को जब दूर करते हैं तो मन्त्र बोलते हैं—**अपहतं रक्षः*** अर्थात् मस्तिष्क के निर्माण की उपादानभूत सामग्री में से राक्षसों को मार भगाया। राक्षस का अर्थ है श्रेष्ठकर्म को रोक देने वाले कुविचार। जिस व्यक्ति में इन यज्ञ-रोधक दुष्टभावों का आधिक्य हो जाता है उसे भी लोग राक्षस कहते हैं। इस प्रकार समस्त याज्ञिक कर्मकाण्ड मन्त्र के भाव को प्रत्यक्ष करके दिखाने का रोचक तरीका मात्र है। जब ये यज्ञ होते थे तो ऋषिगण इनकी प्रत्येक क्रिया किस प्रकार मन्त्र के रहस्य को प्रकट करती है यह समझा देते थे। सभी लोग रुचिपूर्वक मन्त्रभाव को प्रत्यक्ष देखकर पवित्र ज्ञान को अपनी आत्मा में धारण कर लेते थे, वह पवित्र ज्ञान उन्हें शुभकर्मों के अनुष्ठान की प्रेरणा देता था तथा मनुष्य की आत्मा में ऋतुभाव = (यज्ञानुष्ठान का पवित्रसंकल्प) (Divine Will-Power) उत्पन्न हो जाता है। जिस व्यक्ति में जितना अधिक यह पवित्रज्ञान-तत्त्वरूप अग्नि होगा और उसमें नित्य पवित्रज्ञानरूप हवियाँ पड़ती रहेंगी

* यजु. १-१६

उतना ही अधिक प्रबल उस व्यक्ति का संकल्प होगा। वह फिर कष्ट और बाधाओं से नहीं घबरायेगा। वह साधनहीन होने पर भी अपने लक्ष्य की ओर बढ़ता चला जाता है। वह परोपकाररूप यज्ञकर्म के लिये अपने-आपको अर्पित कर देता है। तब अपने-आप हजारों लोग उसके पवित्र कार्य में सहयोगी बन जाते हैं। कुछ ही समय में इन लोगों की ताकत बढ़ जाती है। इन्हीं लोगों को वेद में देव कहा है। बड़े से बड़े अत्याचारियों के अस्त्र-शस्त्र इनकी गति को रोक नहीं सकते। ये जीवनसंग्राम में विजय पर विजय पाते चले जाते हैं। महान् पुरुषों की सफलता का कारण यही प्रेरकज्ञानतत्त्व है जो उनकी आत्मा में प्रतिष्ठित रहता है। जो व्यक्ति यज्ञ के इस भाव को नहीं समझता। उसका अग्निहोत्रादि सब क्रियाकलाप उसकी आत्मोन्नति का कुछ भी साधक नहीं होता। देखो एक समय की वार्ता (बात) है कि शुचि-नामक ऋषि के पुत्र प्राचीनयोग्य, अरुणपुत्र महर्षि उद्दालक मुनि के आश्रम में पहुँचे। तब उद्दालक मुनि अग्निहोत्र का अनुष्ठान करके यज्ञशाला में अपने शिष्यों के साथ ज्ञानचर्चा में संलग्न थे। प्राचीनयोग्य ने महामुनि उद्दालक का अभिवादन किया और एक आसन पर बैठ गये। तब आरुणि उद्दालक ने प्राचीनयोग्य के आगमन का कारण पूछा। प्राचीनयोग्य विनयपूर्वक बोले हे महर्षे ! मैं ब्रह्मोद्य (वैदिक ज्ञानचर्चा) के निमित्त आप वेदवेत्ता के आश्रम में उपस्थित हुआ हूं। मैं अग्निहोत्र का रहस्य आप से जानना चाहता हूं। उद्दालक मुनि द्वारा ब्रह्मोद्य की स्वीकृति देने पर शुचिपुत्र ने अग्निहोत्र के सम्बन्ध में ३३ जटिल प्रश्न पूछे। उसने सबसे प्रथम पूछा—हे गोतम के पवित्र कुल में उत्पन्न महर्षे ! यह अग्निहोत्री (यज्ञ की गौ) किस वैदिक भाव को प्रकट करने के लिये बन्धी है ? प्राचीनयोग्य का दूसरा प्रश्न था गौ के पास खड़ा बछड़ा किस वैदिक भाव का बोधक व प्रतीक है ? इस प्रकार अग्निहोत्र सम्बन्धी अतिगूढ़ प्रश्नों को पूछकर शौचेय प्राचीनयोग्य ने कहा—हे अरुण पुत्र उद्दालक !—

यदि वा एतद् विद्वान् अग्निहोत्रमहौषीः। अथ ते हुतम्। यद्यु वा अविद्वान् अहुतमेव त इति*

यदि तू अग्निहोत्र के इन सब रहस्यों को जानता है तो वस्तुतः तेरा अग्निहोत्र करना सफल है। यदि अग्निहोत्र के वास्तव को जाने बिना तू होम करता है तो निश्चितरूप से तेरा होम करना न करने के बराबर है। सच्चाई यही है कि प्रतीक—गौ, वत्स आदि बोधक चिह्न के प्रतीयमान—बोद्धव्य भाव को

* मा. श. ११-५-३-४

हृदयङ्गम करके जब व्यक्ति अग्निहोत्रादि का अनुष्ठान करता है, मन्त्रभावों का चिन्तन करके उन्हें आत्मगत करता है तब ही अग्निहोत्रादि का अनुष्ठान सार्थक है। अन्यथा यह सब होमादि अनुष्ठान पाखण्ड ही कहा जायेगा।

जिज्ञासु भक्त बोले—हे महर्षे ! क्या सचमुच मन्त्रभावों को हृदय में न धारण करने वाला यज्ञकर्त्ता मन्त्रवाचक व्यक्ति पाखण्डी होता है ? ऋषि ने पूर्ण विश्वास के साथ उत्तर दिया—निश्चित रूप से ऐसा व्यक्ति पाखण्डी, समाज को धोखा देने वाला है। ऐसा व्यक्ति भोले-भाले लोगों को ठग लेता है। देखो जो व्यक्ति मन्त्र का वाचन नहीं करता, ईश्वर की भक्ति के स्तोत्र नहीं गाता, उसे तो सब जन जान लेते हैं कि यह व्यक्ति नास्तिक है, धर्म और अधर्म को यह नहीं मानता, ऐसे आदमी से सब सावधान रहते हैं। उसका विश्वास लोग नहीं करते। पर यह यज्ञ-होम का अनुष्ठाता केवल मन्त्रों का वाचक व्यक्ति अति भयानक है। सामान्य जन इसे धर्मात्मा समझते हैं, इसका विश्वास करते हैं और यह ज्ञानशून्य होमकर्त्ता मन्त्रवाचक उन भोलों को ठगता रहता है। महर्षि याज्ञवल्क्य क्षणभर रुककर फिर गम्भीर स्वर से बोले—भाइयो ! ऐसे धूर्त होमकर्त्ताओं से भोले भाले लोगों को बचाना ज्ञानियों का कर्त्तव्य है। देखो कुछ ऋषिकुलों में जन्मे विप्र नामधारी यज्ञ-यागों के बाह्यानुष्ठान (External acting) में दिन रात एक किये हुये हैं। न ही ये विप्र मन्त्रार्थ को समझते हैं न होम क्रियाओं के वास्तविक अभिप्राय को, फिर भला इनके मूढ यजमान किस प्रकार मन्त्रभाव को ग्रहण कर सकते हैं ? ये विप्र दक्षिणा की लालच में कभी दर्शेष्टि करा रहे हैं, कभी पूर्णमासेष्टि, तो कभी सोमयाग का अनुष्ठान करा रहे हैं। मूढ यजमान को स्वर्गलाभ का झूठा लालच देकर उसका धन हरण करने में अपना कौशल ये विप्र समझते हैं। ये अज्ञान विमोहित मूढ भौतिक वैभव की प्राप्ति में ही जीवन की सार्थकता मानते हैं। ये लोग यदि बाह्य कर्मकाण्ड के आडम्बर में संलग्न रहे और आर्य-सन्तानों को सच्चे यज्ञ से दूर रखा तो मुझे स्पष्ट दिखाई दे रहा कि आर्य जाति राजवैभव से भ्रष्ट हो जायेगी तब आर्यावर्त के निवासियों को घोर पराजय का मुंह देखना पड़ेगा। ये ऋषिकुलों में जन्मे पाखण्डी विप्र और यजमान एक दिन दारुण नरक भोगेंगे। धर्महीन असुर ऐश्वर्य लाभ की कामना से, नाना भोगों की प्राप्ति की इच्छा से पृथिवी पर सदा यत्नशील रहते हैं। ज्योंहि धर्मीजन सच्चे ज्ञान को छोड़कर शुभ कर्मों से विमुख होते हैं और अपने स्वार्थों की सिद्धि के लिये नाना आडम्बर करते हैं त्योंहि असुर इन पर

विजयलाभ कर लेते हैं और इनके सब ऐश्वर्य को बलात् छीन लेते हैं। इन आडम्बरपूर्ण यज्ञवेदियों तक का विध्वंस कर डालते हैं। सब को अपना दास बनाकर अपनी सेवा कराते हैं। इनकी सुन्दर कन्याओं का बलात् उपभोग करते हैं।

भाईयो ! मेरी अन्तरात्मा पुकार रही है, स्पष्ट भविष्य को देख रही है, यदि इन पाखण्डी ज्ञानशून्य नामधारी, ऋत्विजों का तिरस्कार नहीं किया गया, सच्चे वेदज्ञान का प्रचार-प्रसार नहीं किया गया तो सूर्यवंशी और चन्द्रवंशियों के चिरकाल से चले आ रहे साम्राज्य ईर्ष्या-द्वेष की महाविनाशकारी अग्नि में भस्मीभूत हो जायेंगे। यथार्थ ज्ञान के अभाव में धन-वैभव से युक्त आर्यसन्तान नाना व्यसनों का शिकार हो जायेगी। परहित साधक यज्ञभाव नष्ट हो जायेगा। स्वार्थसाधन में तत्पर जन एक-दूसरे के शत्रु हो जायेंगे और परस्पर लड़कर एक दिन सब के सब दुर्बल हो जायेंगे। अतीत में आर्यों का चिरकालिक साम्राज्य वेद के पवित्र ज्ञान पर टिका रहा। मन्त्रों का पवित्र ज्ञान आर्यों को परहित साधन की नित्य प्रेरणा देता रहा। वेदज्ञान से सम्पन्न ब्राह्मण अपने यजमानों को अग्निहोत्र आदि की वेदियों में मन्त्र के सही भावों को प्रकाशित करते थे। जिससे सब जन ईर्ष्या-द्वेष को छोड़कर, अनावश्यक भोगों से दूर रहकर पुण्य कर्मों का अनुष्ठान करते थे। पर आज मैं देखता हूँ यज्ञवेदियों पर मन्त्रार्थ गौण हो गया। याज्ञिक अनुष्ठानों से ही पर-जन्म में स्वर्ग मिल जायेगा, ऐसी मिथ्याधारणा फैल रही है। इसलिये मैंने कर्मकाण्ड में व्यामुग्ध सम्प्रदायों का परित्याग किया तथा समस्त वेदार्थ के वेत्ता आचार्य श्री आदित्य के चरणों में बैठकर वेदों का अर्थज्ञानपूर्वक अध्ययन किया। तब से मैं निरन्त यत्नवान हूँ कि धरती के वासी वेद के पवित्रज्ञान को प्राप्त करें। सच्चे यज्ञ का उन्हें बोध हो। जिससे वे इसी जन्म में धरती पर स्वर्ग का लाभ कर सकें। वेदों में यजुर्वेद अनुष्ठातव्य पवित्र कर्मों का बोधक है इसलिये मैंने बड़े यत्न से माध्यन्दिन, कात्यायान, काण्व एवं सोमश्रवा आदि १५ शिष्यों को यजुर्वेद का पवित्र ज्ञान प्रदान किया तथा उन्हें इस पवित्र ज्ञान के प्रचार में नियुक्त किया है। पर आर्यावर्त के लोग वेदार्थ के ग्रहण में रुचिहीन हो गये हैं। देवकोटि के जन जहाँ परोक्षप्रिय हैं वहाँ सामान्यजन प्रत्यक्षप्रिय हैं। इसलिये प्रत्यक्ष-कर्मकाण्ड में भीड़ देखी जाती है जबकि परोक्ष ज्ञान के ग्रहण करने के लिये विरले ही लोग आते हैं। यही कारण है कि मुझे भी प्रत्यक्ष कर्मकाण्ड का आश्रय लेना पड़ा और शतपथब्राह्मण का

प्रवचन प्रत्यक्ष कर्मकाण्ड को आधार बनाकर करना पड़ा। मैंने अपने ब्राह्मण में बार-बार यह निर्देश किया है कि स्वर्गादि फलों को वही पुरुष प्राप्त करेगा जो कर्मकाण्ड की क्रियाओं द्वारा प्रकटित मन्त्रभावों को अपनी आत्मा में धारण करेगा। इसलिये मैंने प्रत्येक याज्ञिक द्रव्य या क्रिया के अनुष्ठान का यथार्थ भाव प्रकट किया है। महर्षि इतना वक्तव्य देकर शांत हो गये तो जिज्ञासु भक्तों ने फिर पूछा हे महर्षे ! आपने यज्ञ के यथार्थ स्वरूप का बोध कराकर हमें सच्चा मार्ग बता दिया। पर अभी कुछ दिन हुए आपके शिष्य कात्यायन ने एक सूत्रग्रन्थ शतपथब्राह्मण में कथित यज्ञों की विधि बताने का लिखा है। महर्षि याज्ञवल्क्य बोले, हाँ ठीक है—मेरी अनुज्ञा पाकर ही कात्यायन ने उस सूत्रग्रन्थ की रचना की है। मन्त्रार्थ के बोधक प्रतीकात्मक यज्ञों का अनुष्ठान अतिविस्तृत है, उनको सुविधापूर्वक कराने के लिये आवश्यक था कि सूत्ररूप में विधियों का निर्देश कर दिया जाये। इसी भाव से कात्यायन ने वह ग्रन्थ लिखा है। पर कहीं भी ऐसा निर्देश किसी वेदवित् ऋषि ने नहीं दिया कि केवल सूत्रवित् यज्ञ कराने का अधिकारी है। यज्ञ कराने का अधिकारी मन्त्र भावों का ज्ञाता ऋत्विक् ही है।

जिज्ञासु भक्त ने विनयपूर्वक पुनः पूछा—महर्षे ! कात्यायन ने जो यज्ञ की परिभाषा (Definition) लिखी है वह तो आपके उपदेश से सर्वथा भिन्न है। उन्होंने तो यज्ञ की परिभाषा इस प्रकार लिखी है—

देवता द्रव्यं त्यागः*

अर्थात्—देवता को उद्दिष्ट करके जो द्रव्य त्याग किया जाता है उसी का नाम यज्ञ है। इस प्रकार कात्यायन के कथित परिभाषा सूत्र से तो यही सिद्ध होता है कि अग्नि वायु इन्द्र आदि देवताओं के लिये जो घृत तण्डुल (चावल) आदि की हवियाँ दी जाती हैं इसी का नाम यज्ञ है। महर्षि याज्ञवल्क्य ने कहा—भद्र ! कात्यायन के सूत्र का भाव ऐसा नहीं है। वास्तव में देवताओं और हवियों का सच्चा स्वरूप क्या है यह जाने विना यज्ञ का यथार्थ भाव कात्यायन के सूत्र से नहीं जाना जा सकता। देवों तथा हवियों का वास्तविक स्वरूप तो हमने ब्राह्मण में प्रकट किया है। देखो षष्ठ काण्ड में हमने स्पष्ट बता दिया है कि—

,तस्मिन् एतस्मिन् सर्वे देवाः श्रिताः। अत्र हि सर्वेभ्यो देवेभ्यो जुह्वति।**

* कात्यायन श्रौतसूत्र १

** मा. श. ६-१-१-७

अर्थात्—देव अन्यत्र कहीं नहीं अपितु मानव के सिर (मस्तिष्क) में ही आश्रित है। यहाँ सिर में ही सब देवों को हवियाँ प्रदान की जाती हैं। मनुष्य के सिर में सब देव आश्रित हैं इसीलिये देववाणी संस्कृत में सिर को शिर कहा जाता है। इसलिये हमने आगे लिखा—

तस्माद्देवैतच्छिर:*

यही कारण है कि देव दृश्य नहीं अदृश्य हैं। लौकिक नहीं अलौकिक हैं। यज्ञवेदियों में जलने वाला अग्नि मन्त्रप्रतिपाद्य देव नहीं वह तो लौकिक भौतिक अग्नि है। यह लौकिक अग्नि उस अलौकिक अग्नि का, ज्ञान तत्त्व का प्रतीक (Symbol) है, बोधक है। भौतिक अग्नि में दी जाने वाली हवियाँ भी असली हवियाँ नहीं अपितु प्रतीक मात्र हैं। ये लौकिक हवियाँ कभी भी मस्तिष्कस्थ देवों को तृप्ति प्रदान नहीं कर सकती हैं। दिव्यगुणों के प्रेरक देव ज्ञान-प्रोद्भूत (Generated by Sacred Knowledge) हैं। अत: उनकी हवियाँ ज्ञानात्मक ही होती हैं। जब तक ज्ञानग्रहण का सच्चा होम नहीं किया जाता तब तक बाहर के होम से कुछ भी आत्मा की उन्नति नहीं हो सकती।

एक भक्त ने कहा—ऋषिराज ! आप ठीक कहते हैं। बहुत से नित्य यज्ञकर्त्ताओं की आत्मा भी मलिन देखी जाती है। वे नीच कर्म करने में संकोच नहीं करते। परन्तु हे महर्षे ! क्या भौतिक अग्नि में घृतादि की हवियाँ डालना व्यर्थ है। ऋषियों ने ऐसे व्यर्थ के प्रतीकों का प्रचलन क्यों किया। देखिये महर्षे ! कितने ही लोग भोजन के विना क्षीण हो रहे हैं तो एक तरफ कितना ही घी और अन्न अग्नि में राख बना दिया जाता है। महर्षे याज्ञवल्क्य बोले—भद्र ! ऐसी बात नहीं। ऋषियों की सब प्रेरणाएँ वेद-वाक्यों पर आधारित हैं जो सर्वज्ञ परमेश्वर की पवित्र वाणी है। देखो वेद का विज्ञान हमें बताता है कि कोई भी पदार्थ सर्वथा नष्ट नहीं होता अपितु उसका रूपान्तरण (Transformation) हो जाता है। जब हमें उसका रूपा-न्तर दिखाई नहीं देता तो कहते हैं पदार्थ नष्ट हो गया। यही कारण है वेदवाणी में कोई भी शब्द सर्वथा अभाव का प्रकट करने वाला नहीं। नाश, नष्ट आदि शब्द 'नश अदर्शने' धातु से बने शब्द हैं। जिसका अर्थ है पदार्थ का दिखाई न देना। इस प्रकार अग्नि में डाली घी आदि की आहुति अभाव को प्राप्त नहीं होती अपितु सूक्ष्म होकर वायुमण्डल में फ़ैल जाती है तथा अपने संसर्ग से वायु, जल, भूमि, फल-फूल एवं अन्न को पवित्र कर देती है। यह एक

* मा. श. ६-१-१-७

पर्यावरण शुद्धि (Purification of atmosphere) का वैदिक उपाय है। इस प्रकार ऋषियों द्वारा प्रचारित प्रतीकात्मक (Symbolical) याज्ञिक अनुष्ठान भौतिक लाभ भी प्रदान करता है जबकि अन्य लौकिक ध्वज, मूर्ति आदि प्रतीकों का कोई भी भौतिक लाभ नहीं है। परन्तु यह सदा याद रखना चाहिये कि मात्र भौतिक लाभ प्राप्त करने में वेद एवं ऋषियों का तात्पर्य नहीं है। जब तक आत्मा में पवित्र ज्ञान और दिव्यगुणों का प्रवर्धन नहीं होता तब तक भौतिक लाभ दुःख परिणामी ही होता है। इसीलिये श्रेष्ठ देवजन जिस सुखपरिणामी विजय को प्राप्त करते हैं उसका कारण यह बाह्ययज्ञ नहीं अपितु मन्त्रों के उत्प्रेरक ज्ञान को आत्मगत करना है। इसी पवित्र ज्ञान से व्यक्ति शुभ कर्मों में प्रवृत्त होता है। अतः इन्द्रादि सब देव आत्मगत शक्तियाँ हैं तथा इन देवों को दी जाने वाली यथार्थ हवियाँ ऋग्वेद की ज्ञानप्रकाश ऋचाएँ यजुर्वेद के प्रेरक यजु-मन्त्र तथा परम शान्ति के हेतुभूत साममन्त्र हैं। देखो हमने शतपथ ब्राह्मण में कितने स्पष्ट शब्दों में लिखा है—

पय आहुतयो ह वा एता देवानां यदृचः ।*
आज्याहुतयो ह वा एता देवानां यद् यजूंषि ।**
सोमाहुतयो ह वा एता देवानां यत् सामानि ।***

अर्थात्—ऋचाओं के पवित्र ज्ञान को आत्मगत कर लेना ही देवताओं की दूध की असली आहुतियां हैं। यजुर्वेद के पवित्र मन्त्रों के ज्ञान को आत्मा में धारण कर लेना ही देवताओं की वास्तविक घी की आहुति है। साम के शान्तिकारक पवित्र मन्त्रों के ज्ञान को आत्मा में प्रतिष्ठित कर लेना ही देवताओं की सर्वोत्तम सोम की आहुति है। जिज्ञासुभक्तों ने कहा हे महर्षि ! आज हमें यज्ञ के सच्चे स्वरूप का बोध हो गया। आज हम समझ गये समस्त मन्त्रभावों को आत्मा में धारण करके उसके अनुसार कर्म करना ही सच्चा यज्ञ है। इस यज्ञ के बल से देवजन विजय श्री को अधिगत करते हैं। हे महर्षे आज हमें विजय का, सफलता का असली सूत्र समझ में आ गया। यह भी हमारी समझ में आ गया कि सुखपरिणामी विजय केवल यज्ञ से ही प्राप्त होती है। छल कपट तथा राक्षसी बल से प्राप्त विजय निश्चित रूप से अन्त

* मा. श. ११-५-६-३

** मा. श. ११-५-६-४

***मा. श. ११-५-६-५

में दुःखपरिणामी ही होगी। यही कारण है राक्षसराज रावण का सब विजयैश्वर्य अन्त में महाविनाश का हेतु बन गया। श्रीराम ने गुरुवशिष्ठ से वेदोक्त पवित्र यज्ञ की शिक्षा प्राप्त की थी यही कारण है कि उनकी अन्त में सुखपरिणामी विजय हुई। उनका यशोदेह आज भी अमर है।

महर्षि याज्ञवल्क्य बोले—भाईयो! इसलिये वेद का पवित्र मन्त्र कहता है—

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवा स्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः।*

पवित्र वेदज्ञान के अनुसार ही दिव्यगुणों से युक्त देवजनों ने श्रेष्ठकर्म रूप यज्ञ का अनुष्ठान किया। यह सचमुच सर्वोत्कृष्ट करणीय कर्म (धर्म) है। इसी के अनुष्ठान से देवजनों ने संसार में पूज्य भाव को प्राप्त किया और अन्त में सर्वथा दुःखविहीन साध्य ऋषियों द्वारा सेवित मोक्ष को भी प्राप्त किया। हे मनुष्यो! तुम उसी पवित्र यज्ञ का अनुष्ठान करो।



पञ्चम पथ

देवों का सबसे प्यारा धाम—आज्य

यह महर्षि याज्ञवल्क्य का विशाल आश्रम है। आश्रम क्या है विद्यादान का एक महान् केन्द्र है। देश देशान्तरों से प्रबुद्ध जिज्ञासु यहाँ आते हैं और अपनी बड़ी बड़ी शङ्काओं का समुचित समाधान पाते हैं। इतना ही नहीं हजारों ऋषिपुत्र आश्रम में स्थायिरूप से ऋषि के अन्तेवासी (शिष्य) होकर रहते हैं। वे ऋषिमुख से वेदों के सूक्ष्मज्ञान को ग्रहण करते हैं और अपने को गौरवान्वित मानते हैं। माने भी क्यों नहीं, कुछ समय हुआ है—आत्मज्ञान में बहुत आगे बढ़े हुये विदेहराज जनक ने याज्ञवल्क्य को गुरु के रूप में स्वीकार कर लिया है। जब से विदेह जनक ने महर्षि याज्ञवल्क्य को गुरु रूप में अङ्गीकार किया है तब से उनका यश, सूर्यप्रकाश के समान चारों दिशाओं में चमचमा उठा है। महाराजा जनक की विद्वत्सभा में, ऋषिमण्डल के मध्य ब्रह्मिष्ठ (सबसे बड़ा ज्ञानी) होने का महान् गौरव जब से महर्षि याज्ञवल्क्य को मिला तब से बड़े-बड़े ऋषियों ने भी अपने मेधावी पुत्रों को इनका अन्तेवासी बना दिया। इस प्रकार महर्षि याज्ञवल्क्य का आश्रम ज्ञानविज्ञान के ग्रहण का महान् आलय (घर) बन गया है। महर्षि दैवीवाक् (वेद) ईश्वरीयज्ञान के अतिपक्षपाती हैं। ये चरकादि ऋषियों द्वारा प्रचारित कर्मकाण्ड को अधिक महत्त्व नहीं देते। लोक रुचि को ध्यान में रखकर दैवीवाक् (वेदमन्त्रों) में मानुषीवाक् के सम्मिश्रण (मिलावट) को याज्ञवल्क्य ने सर्वथा अनुचित घोषित कर दिया है। इनके आश्रम में ईश्वरप्रदत्त मूल वेदों का ही पठन पाठन होता है। आर्यावर्त के बहुत सारे विद्वानों ने इनके सिद्धान्तों को उचित मान लिया है। हजारों ऋषि पुत्र इनके पास शुद्ध मन्त्रों का ज्ञान ग्रहण करके स्नातक हो गये हैं। वे नाना स्थानों पर दैवीवाक् का प्रचार प्रसार करने में लगे हैं। आज कुछ पुराने स्नातक गुरुचरणों में उपस्थित हुये। उन्होंने महर्षि के चरणों में निवेदन किया—आचार्यपाद! साधारण लोग मन्त्रार्थ के ग्रहण में रुचिहीन हैं। हमारे मन्त्रार्थ-प्रधान प्रवचन सुनने में उनका मन नहीं लगता। इसके विपरीत कर्मकाण्डियों के आडम्बरपूर्ण यज्ञों को देखने के लिये असंख्य लोग श्रद्धाभक्ति से सम्मिलित

होते हैं। ऋषि बोले हाँ मैं इस बात को जानता था कि आज के युग के लोग मन्त्रार्थ के ग्रहण में तत्पर नहीं होंगे। मन्त्रों के भाव अति सूक्ष्म हैं पवित्र मन से ग्राह्य है। संसार में फंसे साधारण जन इस परोक्षज्ञान को ग्रहण नहीं कर सकते। यही कारण है प्रचीन ऋषियों ने मन्त्र के सूक्ष्म भावों को समझाने के लिये प्रत्यक्षात्मक कर्मकाण्ड का आश्रय लिया। परन्तु शनैः शनैः इस याज्ञिक कर्मकाण्ड को रोचक बनाने के लिये अनेक आचार्यों ने मानुषी वाणी का समावेश इन यज्ञों में कर दिया। इतना ही नहीं इन आचार्यों ने याज्ञिक अनुष्ठानों के लिये मन्त्रों के क्रम को भी बिगाड़ डाला। इन आचार्यों ने मूलवेदों के स्थान पर अपनी याज्ञिक संहिताओं को ही महत्त्व देना आरम्भ कर दिया। वे अपने पुत्रों को प्रभु की पवित्र वाणी के स्थान पर अपनी संहिताओं का ही स्मरण कराने लगे। परिणाम स्वरूप मूलवेदसंहिताओं के पठन पाठन का सर्वत्र लोप हो रहा है। मैंने बड़े यत्न से आचार्यपाद आदित्य के मुखारविन्द से मूलवेदों का लाभ किया। मैं वर्षों से लोक में दैवीवाक् (वेद) की प्रतिष्ठा करने का यत्न कर रहा हूँ। बहुत सारे ऋषियों ने इस कार्य में मेरा उत्साह बढ़ाया आज आर्यावर्त के आचार्यों ने अपने विद्यालयों में मूलवेदों का पाठ प्रारम्भ कर दिया। परन्तु साधारण लोग प्रत्यक्षप्रिय हैं। मैंने उनके लिये एक नूतन ब्राह्मण का लेखन आरम्भ कर दिया है, जिसमें यजुर्वेद के समस्त गूढभावों को प्रतीक शैली से प्रत्यक्ष कराने का उद्योग किया है। मैंने पूर्ण यत्न किया है कि मानुषीवाक् का मिश्रण जहाँ तक हो सके याज्ञिक अनुष्ठानों में न किया जाये। परमेश्वर की पवित्र वेदवाणी के मन्त्रों का ही वाचन हो।

प्रबुद्ध शिष्यों में से माध्यन्दिन ने कहा—महर्षे! फिर वही का वही जगड़वाल शुरू हो जायेगा। लोग केवल कर्मकाण्ड के अनुष्ठान में फस जायेंगे। मन्त्रार्थ गौण हो जायेगा।

महर्षि बोले—मैंने अपने ब्राह्मण में मन्त्र के गुह्य भाव को जहाँ प्रकट किया है वहाँ प्रत्येक याज्ञिक अनुष्ठान विधि किस प्रकार मन्त्र के भाव को प्रकट करती है यह रहस्य भी प्रकाशित कर दिया है। इतना ही नहीं प्रत्येक देवता तथा उसको दी जाने वाली हवि का वास्तविक तात्पर्य क्या है, यह भी मैंने सर्वथा स्पष्ट कर दिया है। इस प्रकार दर्शपूर्णमास से लेकर अश्वमेधपर्यन्त सब यज्ञों का रहस्य प्रकट हो जायेगा। मैंने बार बार यह संकेत भी दे दिया है कि जो अनुष्ठान कर्त्ता मन्त्रभावों को ग्रहण करेगा उसी को उत्तम फल का लाभ होगा। इस प्रकार मन्त्रभावों का प्रचार साधारण जनों में करना भी सुकर (आसान) हो जायेगा।

महर्षि याज्ञवल्क्य ने पुनः कहा मैंने इस ब्राह्मण का नाम शतपथ रखा है। इस महान् ब्राह्मण में सौ अध्याय होंगे। इसके ये सौ अध्याय मनुष्य की सम्पूर्ण आयु के अनुष्ठातव्य कर्मों का बोध कराने वाले होंगे। शिष्य बोले आचार्य देव ! आप ने लोक पर महान् अनुग्रह कृपा किया है। हम इस ब्राह्मण का अध्ययन करेंगे। देश देशान्तरों में इसी ब्राह्मण के अनुसार यज्ञों का अनुष्ठान करायेंगे। प्रत्येक मन्त्र के भाव को याज्ञिक अनुष्ठानों से प्रत्यक्ष दिखाकर समझायेंगे। जन सामान्य भी रुचिपूर्वक मन्त्रभावों को ग्रहण कर लेगा।

महर्षि याज्ञवल्क्य ने कहा—तुम सब वेदों का विधिवत् अध्ययन कर चुके हो। थोड़े से दिन में ही मैं तुम्हें अपने नवीन ब्राह्मण का तात्पर्य समझा दूंगा। कल से मैं इसी वटवृक्ष की छाया में ब्राह्मण प्रवचन करूंगा। शिष्य विनीत भाव से बोले—अनुग्रहीताः (बड़ी कृपा है)।

ऋषि आश्रम का विशाल एवं बहुपर्णी। (बहुत पत्तों वाला) वटवृक्ष अपनी शीतल छाया ऋषिमण्डल पर बिखेर रहा है। यज्ञधूम की पवित्र गन्ध ने आश्राम के वातावरण को सात्विकता प्रदान की है। आर्यावर्त के महान् ऋषि आज अपनी नूतन कृति का ज्ञान अपने मेधावी शिष्यों को प्रदान करने के लिये उत्सुक हैं। योग्य एवं प्रखरमति शिष्यों ने अपनी मनोवृत्तियों को एकाग्र कर लिया है। उनका मानस सरोवर सर्वथा शुद्ध तथा शान्त है। सचमुच ऐसे मानस-सर में ज्ञान सूर्य का प्रतिविम्ब सहज ही अन्तर्निहित हो जाता है। ऋषि ने मन्त्रों के सूक्ष्म भावों को सरल रीति से समझाना शुरू किया। उनका पहला वाक्य प्रश्नात्मक था। उन्होंने बहुश्रुत शिष्यों से पूछा—देव तथा देवता इन दो शब्दों में क्या अर्थभेद है ? शब्दशास्त्र (व्याकरण) में पारङ्गत शिष्य अवाक् रह गये। व्याकरण शास्त्र के महान् आचार्यों ने भी इनके भेद का कोई संकेत नहीं किया। कण्वपुत्र ने विनीतभाव से कहा—महर्षे ! देव तथा देवता शब्द तो समान अर्थ वाले हैं। देव को ही देवता भी कहा जाता है।

महर्षि गम्भीर स्वर में बोले—कण्व के मेधावी पुत्र ! वैयाकरण शब्द के सूक्ष्म अर्थ का चिन्तन प्रस्तुत नहीं करते। पर भला विचार करो परमेश्वर दो शब्दों से एक अर्थ का बोध कराकर व्यर्थ का ग्रन्थ विस्तार करने वाला कैसे हो सकता है। सदा याद रखो शब्दज्ञान तत्त्व का संकेत मात्र है और शब्द अर्थतत्त्व का बोध करा कर सार्थक हो जाता है, दूसरे शब्द को उसी अर्थ को बोधित कराने की आवश्यकता नही होती। वैदिक ऋषियों का यही

सर्वसम्मत सिद्धान्त है। इसलिये वैयाकरणों में प्रसिद्ध है "अर्थगत्यर्थः शब्द प्रयोग:* अर्थात् अर्थ को जानने के लिये ही शब्द का प्रयोग किया जाता है। अतः प्रत्येक शब्द किसी विशेष अर्थ का संकेत करने वाला है। शिष्य गण ने एक स्वर में कहा—गुरुदेव ! हम अनुगृहीत हुये। अब हमें देव तथा देवता शब्दों के अर्थभेद का बोध कराईये। ऋषि बोले—सुनो ! देव—दिव्य ज्ञान शक्तियों का नाम है। ये पुरुष के सिर में अवस्थित हैं। ये दिव्य शक्तियाँ जब हवियों को ग्रहण करती हैं तो विस्तार को प्राप्त करती हैं और वृद्धि को प्राप्त आत्मगत शक्तियाँ मनुष्य को उत्तम कर्मों में प्रवृत्त करती हैं। इस प्रकार जब देव हवि ग्रहण करते हैं तो देवता कहलाते हैं। यदि इन देवों को हवि नहीं मिलेगी तो ये देवशक्तियाँ क्षीण हो जायेंगी। इनके क्षीण होने पर मनुष्य की कर्मशक्तियाँ जो प्राणरूप है जो सब चेष्टाओं के निमित्त हैं निष्क्रिय हो जायेंगी। तब ऐसे व्यक्ति का वैभव नष्ट होने लगेगा। देखो ! हमने अपने ब्राह्मण में स्पष्ट लिखा है—

जीर्यन्ति ह वै जुह्वतो यजमानस्याग्नयः। अग्नीन् अनु यजमानः। यजमानमनु गृहाश्च पशवश्च।**

अर्थात्—जब कोई व्यक्ति श्रेष्ठकार्यों में अपनी शक्ति लगाता है तो उसकी सब देवों की कारणभूत अग्नियाँ क्षीण होती है तथा उसके दुर्बल होने पर मनुष्य के सब अङ्ग कर्म करने में शिथिल हो जाते हैं। उनके क्षीण होने पर उसके परिजन सहयोगी शिथिल हो जाते हैं तब फिर उसका पशुधन आदि वैभव भी क्षीण हो जाता है। यह एक अति समझने की बात है जैसे शरीर को अन्न आदि भोजन की हवि न मिले तो क्या यह कार्य कर सकेगा। इसी प्रकार मनुष्य की आत्मगत दिव्यज्ञान शक्तियों को भी भोजन की आवश्यकता है। हवि की जरूरत है। यदि उसको हवि न मिली तो वे देवशक्तियाँ निर्जीव हो जायेंगी।

जैसे भौतिक अग्नि को इंधन न मिलने पर बुझ जाती है, राखमात्र बच जाती है फिर वह न प्रकाश देती है न गर्मी। इसी प्रकार जिस व्यक्ति की आत्मिक देवशक्तियां बुझ जाती हैं वह श्रेष्ठ कर्मों के अनुष्ठान की शक्ति खो देता है और शरीर से पुष्ट होने पर भी कुछ ही समय में उसका जीवन-दीप बुझ जाता है।

---

* पा. महाभाष्य १-१-४१

** मा. श. ११-७-१-१

महर्षि बोले—इस प्रसङ्ग में यह भी समझ लेना चाहिये कि आत्मगत देवशक्तियाँ भी भौतिक साधनों के बिना कुछ नहीं कर सकतीं। ये ज्ञान शक्तियाँ सूक्ष्म प्राणों के अन्दर प्रेरणा प्रदान करके ही चेष्टा की निमित्त वनती हैं। यदि ये प्राण शक्तियाँ दुर्बल हैं तो ज्ञान शक्ति को आश्रय कहाँ मिलेगा। अतः इन प्राण शक्तियों को सबल बनाना आवश्यक है। प्राण शक्तिओं का मुख्य आधार वायु है। इन प्राणों को भी स्थूल आधार की आवश्यकता है जिनके आश्रित रहकर ये प्राण चेष्टा करते हैं। जिन लोगों के प्राणों का आधारभूत सूक्ष्म तथा स्थूल शरीर दुर्बल है वे जन भी कर्म करने में शक्त नहीं होते। शरीर के पोषण का मुख्य साधन भोजन एवं जल है। इस प्रकार शरीर को पुष्ट करने वाली हवि दूध, घी, फल तथा अन्नादि है तो प्राण शक्तियों के लिए शुद्ध वायु ही हवि है। परन्तु देवशक्तियाँ जो आत्मा में स्थित ज्ञान रूप हैं, उनकी हवि ये भौतिक पदार्थ कैसे हो सकते हैं। उनकी हवि तो अलौकिक ही होनी चाहिये और वही अलौकिक हवि ज्ञान है। देवगण भी सदैव ज्ञानरूपी हवि की कामना करता है। यदि इनको हवि न मिली तो वे कमजोर पड़ जाते हैं और असुर शक्तियाँ बलवान् होकर मनुष्य को दुष्कर्मों में प्रवृत्त कर देती हैं। इस प्रकार मनुष्य नीच कर्म करके पतन को प्राप्त कर लेता है। दुष्टों के पतन की यही प्रक्रिया है। वे प्राण तथा शरीर का पोषण करते हैं। आत्मगत देवशक्तियों के पोषण की चिन्ता ये जन नहीं करते। परिणामस्वरूप आसुरी भोगभाव इनको वशीभूत कर लेते हैं। ये जन भोगविलास में डूब जाते हैं। भोगी व्यक्ति प्रातः समय पर नहीं उठ सकता। व्यायाम का तप नहीं कर सकता तब उसके प्राण और शरीर भी दुर्बल हो जाते हैं। इसलिये वेदों में सबसे अधिक बल देवशक्तियों को हवि देने में दिया है। क्योंकि देवशक्तियाँ जीवन सुख का मुख्य स्रोत हैं, प्रथम कारण हैं।

विनयशील माध्यन्दिन ने कहा—आचार्यपाद ! शारीरिक शक्ति और प्राणशक्ति देवशक्तियों का आधार कैसे वनती हैं इसे मैं भलि-भाँति नहीं समझा। महर्षि याज्ञवल्क्य बोले—देखो स्थूल शरीर अन्न जलरूपी हवि जाठराग्नि (पेट की अग्नि) में दी जाती है। जठराग्नि उसे पकाती है तो रस वनता है इस रस को फिर शरीरस्थ अग्नि पकाती है तो रक्त बनता है। रक्त को भी अग्नि पकाती है तो माँस बनता है फिर माँस पकता है तो अस्थियों (हड्डियों) को हवि मिल जाती है, हड्डियां पकती हैं तो मज्जा को

हवि मिलती है मज्जा पककर वीर्य की हवि बनती, वीर्य के परिपाक से सूक्ष्म प्राणतत्त्वों के आधारभूत मस्तिष्क को हवि मिलती है। इसी प्रकार जब मनुष्य श्वास लेता है तो प्राणवायु से छाती, उदर हाथ तथा पैरों में काम करने वाले सात प्राणों को हवि प्राप्त होती है। यदि शुद्ध प्राणवायु का यथेष्ट लाभ ये शरीरस्थ प्राण नहीं कर पाते तो ये क्षीण हो जाते हैं, तब मोटे ताजे मनुष्य के हाथ पैर आदि अङ्ग समुचित कार्य नहीं करते। इन सातों प्राणों का सूक्ष्म सार भाग ऊपर उठता है तथा उसी से मस्तिष्क में काम करने वाले सूक्ष्म प्राणों का निर्माण होता है।* और नित्य इनको सात प्राणों के सार भाग की हवि मिलती रहती है। यदि इनको हवि न मिले तो ये दुर्बल हो जाते हैं। इन्हीं मस्तिष्क में रहने वाले सूक्ष्म प्राणों को ज्ञानेन्द्रियाँ कहते हैं। इसी मस्तिष्क में ज्ञानधारक आत्मा का निवास है। आत्मा की प्रमुख शक्ति ज्ञान है उसी को वेद वाणी में अग्नि कहा है। आत्मा की यह शक्ति अग्नि ही अन्य सब दिव्यगुण रूप देवों की कारणभूत है। अन्य देव इसी ज्ञान शक्ति से जीवन प्राप्त करते हैं। इस ज्ञानात्मक अग्नि देव की हवियाँ ज्ञान कणिकाएँ हैं जो मन्त्रों में विद्यमान हैं। परन्तु इस ज्ञान रूप देवों के साधन सूक्ष्म प्राण हैं। जिनको अभी हमने ज्ञानेन्द्रियाँ कहा हैं। ये साधन होने से करण भी कहलाते हैं और इन सूक्ष्म प्राणों के धारक मस्तिष्क आदि अङ्ग हैं। इन तीनों का ही पुष्ट होना आवश्यक है। जैसे स्थूलदेह का पोषण घृतादि उत्तम पदार्थों से युक्त भोजन के द्वारा होता है। रूखा-सूखा भोजन खाने वाले पुरुष के देह में बल क्षीण हो जाता है। उसी रूखे सूखे अन्न में घृत का मिश्रण कर देने से वही भोजन देह का सम्यक् तर्पण कर देता है। घी खाया नहीं कि शरीर में शक्ति आई नहीं। इसलिये नहीं कुछ लोग घृत को जीवन कहते हैं। विद्वान् घृत को आयु रूप ही कहते हैं।

घृत सचमुच शरीर का तर्पक है। यह प्राणों को मजबूत आधार देता है। श्रमी जन सदा घृत भक्षण की इच्छा रखते हैं। यह अमृत समान दूध का भी सार है। अग्नि में जब यह घृत पड़ता है तो वह तृप्त सी होकर प्रचण्ड हो जाती है।

कात्यायनी पुत्र ने नम्रता पूर्वक पूछा—आचार्य देव! घृत शरीर का पोषक हो सकता है पर आत्मगत ज्ञानरूपी देवशक्तियों की हवि यह हवि कैसे हो सकता है।

---

* श. ब्रा. श. ६-१-१

ऋषि बोले वेदवाणी के शब्द अद्भुत अर्थक्षमता रखते हैं। ये सारे हविवाचक शब्द बहुविध अर्थतत्त्वों के प्रकाशक हैं। पर वेदों के सूक्ष्मचिन्तन के पश्चात् ऋषिमण्डल ने इसी सिद्धान्त को स्वीकार किया कि इन सब हवियों का मुख्य तात्पर्य आत्मगत दिव्यशक्तियों के साथ है। यही नहीं यह भी सदा स्मरण रखो वेदमन्त्रों का मुख्य प्रतिपाद्य देवशक्तियों का प्रवर्द्धन कराने में है। हमारी आत्मा में देवशक्तियों का प्रवर्द्धन ज्ञान रूपी हवियों के प्रदान करने से होता है। दिव्यज्ञान शक्तियों का सदा एकरस केन्द्र परमदेव परमेश्वर है। अतः उसका पवित्र वेद ज्ञान ही हमारी आत्मा में देवशक्तियों का उत्पादक तथा वर्द्धक हो सकता है। इन्हीं पवित्र ज्ञान शक्तियों से ही मनुष्य देव पद को प्राप्त करता है। अतः मनुष्य शरीर रूप से प्रत्यक्ष है, पर ज्ञानशक्ति रूप देव परोक्ष हैं, अदृश्य हैं। जब देव अदृश्य हैं तो उनकी हवियाँ उनका आज्य (घी) भी अदृश्य ही होगा। शिष्यमण्डली में से प्रबुद्ध माध्यन्दिन ने विनय के साथ पूछा—हे गुरुवर्य ! मनुष्यदेह के लिये घृत उत्तम हवि है। भौतिक अग्नि भी घी की हवि पाकर पुष्टि पा जाती है पर आत्मा की देवशक्तियों की घी के समान सबसे प्यारी हवि क्या हैं जो उन्हें तुरन्त पोषण देती है, चिरकाल तक जीवन देती है। वह ज्ञान हवि कौन सी है जो आत्मा की देवशक्तियों को तृप्त कर देती है। जिस हवि को पा कर देव फिर असुरों के लिये अजेय हो जाते हैं। महर्षि बोले सुनो—

आज्येन जुहोति। एतद्वै देवानां प्रियं धाम यदाज्यम्। प्रियेणैवैनान् धाम्ना समर्द्धयति।*

आज्य के द्वारा देवों को आहुति देता है। आज्य (घी) देवों का प्रिय धाम है। इसी के द्वारा देवों को बलयुक्त करता है।

ऋषि ने अपने वचन की व्याख्या आरम्भ करते हुये कहा—प्रिय शिष्य मण्डलों, तुमने याज्ञिकों द्वारा आज्य (घी) के निर्माण की विधि देखी होगी महायाज्ञिक कण्व के पुत्र ने कहा—हाँ गुरुदेव ! मैंने अनेकों बार आज्य निर्माण विधि का अवलोकन किया है। सफेद बछड़े वाली सफेद गाय का दूध दुहा जाता है, उसे चर्मपात्र में जमाते हैं फिर उसे रथ से बान्ध कर रथ को दौड़ाते हैं। जब स्वयं हिल हिल कर उस दही पर मक्खन आ जाता है तो उसे निकाल कर अग्नि पर तपा कर सूर्य के ताप से तपाने पर जो घी बनता है उसे याज्ञिक आज्य कहते हैं।**

* मा. श. १३-२-१-२

** वरुण्यं वा एतद् यन्मथितम्। अथैतत् मैत्रं यत् स्वयमुदितम्।
मा. श. ५-३-२-६

ऋषि याज्ञवल्क्य बोले देखो—दक्षिणालुब्ध याज्ञिक तो इस प्रकार का आडम्बर पूर्ण क्रियाकलाप करा कर अपना प्रयोजन सिद्ध कर लेते हैं। ऋषियों के वेदव्याख्यान ग्रन्थों को ये याज्ञिक नहीं विचारते। विचारें कैसे ? दक्षिणा के लोभ में दिन रात याज्ञिक अनुष्ठानों में ही लगे रहते हैं। जब कोई प्रबुद्ध दर्शक इनसे इस विचित्र कृत्य का प्रयोजन पूछता है तो ये याज्ञिक झट कहते हैं शास्त्र विधि का पालन करना अभ्युदय का कारण है। विधिपूर्वक यज्ञानुष्ठान से यजमान को शास्त्रकथित स्वर्गफल मिलेगा। पर जिन याज्ञिकों ने विधिवत् वेदशास्त्र का अध्ययन ऋषि आश्रमों में किया है, वे आज्य निर्माण के वास्तविक रहस्य को जानते हैं। देखो—सफेद गाय पवित्र वेदवाणी की प्रतीक है। गाय का श्वेतवत्स (सफेद बछड़ा) पवित्र मन का बोधक है। पवित्र मन से जब वेदवाक् रूप गौ को दोहने के लिये पोसाया जाता है। रहस्य यह है कि वेदवाणी का धारक गुरु पवित्र मन वाले शिष्य को देखकर ज्ञानरूपी दूध दूहने के लिये तैयार हो जाता है। उस दूध को शिष्य बुद्धि द्वारा दोहकर अपनी बुद्धि में जमा लेता है तथा उसमें से मक्खन निकाल लेता है अर्थात् प्रत्यक्ष ज्ञान की सहायता से उस ज्ञान को और भी निर्दोष बना लिया जाता है इतना ही नहीं फिर यथार्थवेत्ता ऋषियों के संसर्ग से अपने ज्ञान रूपी मक्खन को तपाता है जिससे सर्वथा सन्देहरहित ज्ञान तत्त्व रूप आज्य का निर्माण होता है। मानव जीवन का सर्वोत्तम ग्राह्यतत्त्व यही पवित्र ज्ञान आज्य है।

जब इस पवित्र ज्ञान की अलौकिक हवि आत्मगत देवों को मिलती है तो वे सहसा प्रबल हो जाते हैं। वेदों के इस पवित्र एवं सर्वथा परीक्षित ज्ञान को मैत्रज्ञान कहा जाता है।* जिस प्रकार सच्चा मित्र ठीक समय पर सुपथ का बोध कराता है और आपत्तियों से बचा देता है, उसी प्रकार यह मित्र देवताक ज्ञानधारा आत्मा को ऐसी सत्प्रेरणा देती है, जिससे मनुष्य स्वयं ही पापों से बच जाता है, श्रेष्ठ कर्मों का अनुष्ठान करता है। मित्रज्ञान से भिन्न दूसरा ज्ञान वरुण देवता वाला होता है। उसे वेद में घृत कहा है। यद्यपि यह भी गौ का ही घी है। वेदवाणी का पवित्र ज्ञान है। परन्तु आज्य तथा घृत के निर्माण में मूलरूप से भिन्नता है। आज्य निर्माण की विधि में देखो-उसमें बिलौने की ताड़ना नहीं, अग्नि को जला देने वाला घोर दाह नहीं। वह स्वयं सूर्यताप से निर्मित हुआ है। अतः आज्य अहिंसाजन्य है। जबकि सामान्य घृत निर्माण में बिलौने की ताड़ना है,

---

* ब्रह्मैव मित्रः। अभिगन्तैव ब्रह्म। मा. श. ४-१-४-१

अग्नि के घोर दाह का संयोग है। ऋषिगण ने भौतिक आज्य तथा घृत के निर्माण से मैत्र ज्ञान तथा वारुण ज्ञान के यथार्थ स्वरूप को प्रत्यक्ष कर दिखाया है। ताड़ना से उत्पादित ज्ञान वरुण देवता वाला है तो स्वयंश्रद्धा से गृहीत ज्ञान मित्र समान स्वभाव वाला सदा सुपथ पर चलाने वाला है। वरुण बंधन करने वाला देवता है उसके पाशों (बन्धनों) का बार-बार मन्त्र में उल्लेख आता है।* वरूण क्षत्रिय देव है। वह ज्ञान के साथ ताड़ना का उपयोग भी करता है। जबकि मित्र ब्राह्मण हैं। वह भय से नहीं ज्ञान से कल्याण पथ पर लोगों को चलाता है। ताड़ना से भय से उत्पादित ज्ञान सदा कल्याण का हेतु नहीं हो सकता। जबकि स्वयं श्रद्धा से गृहीत ज्ञान (आज्य) प्रतिपल दिव्य गुणों को शक्ति प्रदान करता है। उनकी आसुरभावों से रक्षा करता है। ऐसी पवित्र ज्ञानरूपी आज्य की हवि पाकर देव शक्ति सम्पन्न हो जाते हैं। तर्पण तथा संवर्द्धन का लाभ करते हैं। फिर व्यक्ति असुरों के वश में नहीं होता। वह वरुण के पाशों से मुक्त होकर भी मर्यादा में रहता धर्म पर दृढ़ रहता है। हे शिष्य गण ! ऋषि इस पवित्र ज्ञान की, सर्वश्रेष्ठ पवित्र वेदवाणी के मन्त्रों के सार की हवि अपने आत्मस्थ देवों को नित्य प्रदान करके सच्चे यज्ञ का अनुष्ठान करते थे। इस सर्वोत्कृष्ट यज्ञ के कर्त्ता को कभी कञ्चन तथा काञ्चनी का लुभावना आकर्षण कुपथगामी नहीं होने देता। कष्ट और बाधाएँ उसे अपने कर्त्तव्य पथ पर बढ़ने से रोक नहीं सकती। विदेह जनने इसी आज्य हवि से अपने आन्तरिक देवों को तृप्त किया है। वे ऋषियों के संगमों में इस ज्ञान का दोहन पवित्र मन के साथ करते हैं।

हे ऋषि पुत्रों देखो—कितना महान् फल इस ज्ञान का विदेह जनक प्राप्त कर चुके हैं। राज्य में धन वैभव है; भोग सामग्री की कुछ कमी नहीं। नवयौवन सम्पन्न बालाओं की सुलभता राजा के लिये सदा है। राजा का भोगापेक्षी हो जाना सहज है पर विदेह राज भोग निरपेक्ष हैं। उनकी इन्द्रियाँ सदा वशवर्तिनी हैं। किसी भय से नहीं। अपकीर्ति की भीति से नहीं अपितु अपने आन्तरिक ज्ञान के पवित्र प्रकाश से विदेहराज भोगों से तटस्थ है। देखो पुरा काल में ऋषि मण्डल अपने शिष्यों की आत्मा में इसी भाव को उत्पन्न करते थे। उनके अन्तः में सदा सुपथ पर चलाने वाले मैत्र ज्ञान को उत्पन्न करते थे। यही कारण है वसिष्ठ के शिष्य श्रीराम तथा लक्ष्मण की आत्माओं में देवभावों की अक्षीण शक्तियों का दर्शन होता है। सुमित्रा पुत्र लक्ष्मण अपनी

---

* द्र. ऋग्वेद १-२४-१५, १-२५-२१

रूपवती यौवन सम्पन्न पत्नी के विरह का कोई शोक नहीं करता। राम भी परम-सुन्दरी सीता के साथ होने पर भोगवासना से निरपेक्ष हैं। अहो कितना देवशक्तियों का वर्चस्व और तेज है। इन्द्रियाँ सुसारथी के घोड़ों के समान सदा वशवर्तिनी हैं। देखो जब श्रीराम भाई लक्ष्मण तथा प्राणप्यारी सीता के साथ दण्डक वन की ओर बढे तो मार्ग में महामुनि शरभङ्ग का आश्रम मिला। राम ने विनीतभाव से आश्राम में प्रवेश किया। मुनिमण्डल ने अपना अहोभाग्य मनाया। वह मुदित थे कि आज महान् ऋषि वसिष्ठ के शिष्य श्रीराम अपने अनुज लक्ष्मण तथा धर्मशीला पत्नी सीता के साथ आश्रम में आये हैं। ये सच्चे ज्ञान से सम्पन्न क्षत्रिय हैं। अब निश्चित रूप से राक्षसों से हमारा त्राण होगा। अब हमारा साधना यज्ञ निर्भय होगा। श्रीराम ने मुनिमण्डल का विनयभाव से अभिवादन किया। श्रीराम हाथ जोड़कर बोले हे वनस्थ मुनियो ! मैं क्षत्रधर्म का व्रती वसिष्ठ शिष्य दशरथ पुत्र राम हूँ। मैंने सुना है दक्षिण देश में कुछ भोगवादी मनुष्य साक्षात् राक्षस रूप हो गये हैं। मैंने सुना है नीच जन मुनिजनों को सन्ताप देते हैं। नरमांस तक का भक्षण करने में ये राक्षस संकोच नहीं करते। हे मुनिगण इनकी आत्मा मलिन हो गई अब ये ब्राह्मण के सदुपदेश से सन्मार्ग पर नहीं आ सकते। अब राम के तीक्ष्णबाणों की भयङ्कर मार ही इन्हें कल्याणपथ का बोध करायेगी। अथवा ये मानव देह को छोड़कर यमराज परमात्मा के शासन से नाना दुःखपूर्ण योनियों में क्लेश भोगकर ठीक होंगे।

मुनि बोले कौशल्या पुत्र ! इन नीच राक्षसों से भद्रजन पीड़ित हैं। सैंकड़ों मुनियों को इन्होंने मार डाला। मुनि श्रीराम को आश्रम के दूसरी तरफ ले गये और बोले—

एहि पश्य शरीराणि मुनीनां भावितात्मनाम्
हतानां राक्षसै र्घोरै र्बहूनां बहुधा वने।*

हे श्री राम ! देखो पवित्रात्मा मुनियों के मृत शरीरों को जिन्हें क्रूर राक्षसों ने मार डाला। मुनि यह कहकर फिर बोले—हे दशरथ पुत्र तुम्हारे आगमन से हमें त्राण की रक्षा की आशा हुई है। तुम निश्चित रूप से हम मुनियों की रक्षा करोगे। हम सब अपनी रक्षा के लिये आपसे प्रार्थना करते हैं। यह सुनकर विनयधारी श्री राम हाथ जोड़ कर यह धर्मपूर्ण सारवान् वचन बोले—

---

* वाल्मीकि रामायण

नैवमर्हत मां वक्तुमाज्ञाप्योहुहं तपस्विनाम् ।
केवलेनात्मकार्येण प्रवेष्टव्यं मया वनम् ।*

हे वनस्थ तापसो! आप ऐसे प्रार्थनापूर्ण वचन मत कहो । आप मुनिजन मुझे आदेश दो । मैं तो अपने क्षात्रधर्म के पालन करने की कामना से स्वयं इस भयङ्कर राक्षस सेवित दण्डक वन में आया हूँ ।

महर्षि याज्ञवल्क्य बोले—हे शिष्य गण ! यही सच्चे आज्यहोम का सुफल है । राम भय से नहीं, यश की कामना से नहीं अपितु अपने धर्म का अपने कर्त्तव्य का पालन करने की पवित्र भावना से दण्डकारण्य में जा रहा है । इधर दूसरा आज्यहोमी वसिष्ठ शिष्य भरत भी घोषणा कर रहा है । जब मेरा धर्मात्मा ज्येष्ठभ्राता धर्मार्थ वल्कल—वस्त्र धारण करके दण्डक वन में घोर तप कर रहा है तो भरत भी अयोध्या के महलों में निवास नहीं करेगा । वह भी नन्दी ग्राम में तपस्वी बनकर प्रजा की सेवा करेगा । वह भी चौदह वर्ष राजभोगों का उपभोग नहीं करेगा । अयोध्या के राजसिंहासन पर राजपुत्र नहीं राम के क्षात्रधर्म की, उसके महान् तप की प्रतीक चरणपादुकाएं प्रतिष्ठित हैं और ज्ञानवान् भरत अक्लेश मन से, समोद हृदय से अयोध्या की प्रजा की पालना में तत्पर हैं । ऋषि मण्डल पवित्रज्ञान के प्रभाव को प्रत्यक्ष देख मुग्ध है । वाल्मीकि कह रहे हैं—

ततस्तु भरतः श्रीमानभिषिच्यार्यपादुके ।
तदधीनस्तदा राज्यं कारयमास सर्वदा ।*

अहो श्रीमान् भरत ने अपना राज्याभिषेक नहीं कराया । उसने आर्य श्रीराम की पादुकाओं का राज्याभिषेक कर दिया और स्वयं उनका सेवक बन गया । बस इसी पवित्रज्ञान का नाम आज्य है । यह पवित्र ज्ञान मनुष्य की आत्मा को स्वयं धर्मानुष्ठान की सतत प्रेरणा देता है । जो जन ऋषियों के चरणों में बैठकर श्रद्धाभाव से इस पवित्रज्ञान को ग्रहण करते हैं वे मानों अग्नि में घी डालते हैं । जो लोग एकान्त में बैठकर मन्त्र का चिन्तन करते हैं श्रुतिवाक्यों का स्वाध्याय करते हैं वे ही सच्चे आज्यहोम कर्त्ता हैं । उनकी देवशक्तियों को अपना सबसे प्यारा तेज मिल जाता है, बलवर्द्धक अन्न मिल जाता है । फिर उसका मन देव मन बन जाता है । बुद्धि मेधाबुद्धि के रूप में बदल जाती है ।

* वाल्मीकि रामायण

तब वह काम क्रोध लोभ मोह आदि असुरभावों से ऊपर उठ जाता है। ये सब असुर उसे धर्म से, अपने कर्त्तव्य से फिर हटा नहीं सकते। यही आज्य हवियों के होम का रहस्य है। जो इस रहस्य को जानता है। ज्ञान रूपी आज्य का होम नित्य करता है। वही सच्चा देव तर्पक है। अन्यथा वाह्याडम्बर का अनुष्ठान पाखण्ड है व्यर्थ का समय खोना है, लोगों को धोखे में डालना है। ऋषि ने इतना कहकर अपना ब्राह्मण प्रवचन समाप्त किया। शिष्यगण के मुख से सहसा निकल पड़ा—यथार्थ तत्त्व का बोध हुआ—अनुगृहीताः स्म (बड़ी कृपा हुई)।

———

षष्ठ पथ

ब्राह्मणों का शत्रुघाती वज्र—यूप

इन्द्र के वज्र का उल्लेख वेदशास्त्रों में बार-बार आता है। वज्र से ही इन्द्र वृत्र नामक अपने महान् शत्रु को मारता है और महेन्द्र के उच्चपद को पाता है। वृत्रघाती वज्र क्या है? शास्त्र पढ़ने से भी हमारी समझ में ठीक नहीं आया। किसी ने बताया, वेदवेत्ताओं में याज्ञवल्क्य इस समय सबसे महान् विद्वान् हैं। वेद के सूक्ष्म तत्त्वों का साक्षात्कार करके याज्ञवल्क्य ने ऋषिपद को प्राप्त कर लिया है। इन्द्र के महान् अस्त्र वज्र का सच्चा स्वरूप वे समझा सकते हैं। महर्षि याज्ञवल्क्य का यशोगान जब से हमने सुना तब से ऋषिराज के दर्शनों के लिए हम उत्सुक थे। एक दिन सौभाग्य से हम याज्ञवल्क्य के आश्रम में पहुँच गये। आश्रम को देखकर हम चकित थे। एक तरफ हजारों पुष्ट गात्र गाँयें बैठी रोमन्थ (जुगली) कर रही थी। उनके सींगों पर सोना जड़ा था। दूसरी ओर बहुत से तापस ब्रह्मचारी वेदों का अभ्यास करने में लगे थे। यज्ञशाला के ठीक सामने पूर्व में एक विशाल वट (बड़) का वृक्ष था, जो अपने सघन पत्तों से बहुत सारे आकाश को घेरे शान्त खड़ा था। उसके बड़े-बड़े पत्ते मानो किसी देवपुरुष पर पंखा बनकर हवा के लिए उत्सुक हों। उसी वृक्ष की छाया में एक काष्ठपीठ (चौकी) रखी थी। उस पर पवित्र मृगचर्म बिछा था। हमने एक तापस बालक से अपनी अभिलाषा प्रकट की। हम महाविज्ञानी आचार्यपाद याज्ञवल्क्य के पुण्य दर्शन करना चाहते हैं। ऋषिकुमार ने मधुरवाक् से उत्तर दिया—हमारे कुल-पिता आजकल माध्यान्दिनादि पूर्व स्नातकों को अपनी नूतन कृति शतपथ ब्राह्मण पढ़ा रहे हैं। वे थोड़ी देर में इस काष्ठपीठ पर ही बैठकर अपना ब्राह्मण प्रवचन करेंगे। आप तब तक प्रतीक्षा करें। थोड़ी देर में महर्षि आये और चौकी पर बैठ गये। हमें लगा मानो सविता देव ने लोकजागृति हेतु अरुणाचल पर आसन लगा दिया। ऋषि का मुख बाल सूर्य के समान अरुण कान्ति से दीप्त था। आँखे तेज से पूर्ण थी। शांति की साक्षात् मूर्ति ही मानो काष्ठपीठ पर प्रतिष्ठित हो गई ऐसा भान हो रहा था। हमारा मन श्रद्धा से

भर गया। सिर श्रद्धा से झुक गया। हमने ऋषिचरणों में अपना प्रणाम किया। अवसर पाकर हमने अपनी जिज्ञासा ऋषिचरणों में विनयपूर्वक प्रस्तुत कर दी। ऋषि ने शान्तस्वर में कहा बैठो। मैं अपने प्रोढ़ (बड़े) शिष्यों को यजुर्वेद के ब्राह्मण का तत्त्व समझा रहा हूँ। आज मैं इन्द्र के वज्र के एक अङ्ग पर प्रकाश डालूंगा। यदि तुम सावधान मन से सुनोगे तो समझ में आ जायेगा कि वैदिक वज्र का स्वरूप क्या है। थोड़ी देर में तेजस्वी शिष्य आ गये। उन्होंने श्रद्धापूर्वक अपने आचार्य का अभिवादन किया तथा विनीतभाव से महर्षि के सम्मुख बैठ गये। ऋषि बोले आज हम वैदिक यूप का यथार्थ स्वरूप बतायेंगे। तुमने बड़े बड़े यागों में पलाश (ढाक) के काष्ठ से बना यूप देखा होगा। शिष्य गालव ने कहा—आचार्य देव! चरक शिष्य तित्तिर ने एक सोमयाग कराया। सोमयाग को महावेदि के पूर्व में एक पलाश (ढाक) के वृक्ष के मोटे तने से बनाया हुआ मनुष्य की लम्बाई के आकार का खम्बा गाड़ा हुआ था। किसी ने पूछा यह क्या है? तो उन्होंने बताया यह यज्ञयूप है। यही वह वज्र है जिससे पशु यज्ञ की हवि बनने के लिये तैयार हो जाते हैं।

महर्षि याज्ञवल्क्य बोले—हे शिष्यगण इन्द्र एक देव है। यह ऐश्वर्य प्रापक देव आत्मा की प्रधान शक्ति है। वास्तव में इन्द्र आत्मा का ऐश्वर्य इच्छुक स्वरूप है। वह सब देवशक्तियों का अधिष्ठाता देव है। इसलिये इन्द्र का वज्र न कोई शस्त्र है न अस्त्र। सत्य यह है कि अस्त्र शस्त्रों से असली शत्र को मारा नहीं जा सकता। हमारा असली शत्रु क्या है? यह हमें समझना होगा। हमारा असली शत्रु आत्मगत भोग वासनाएँ हैं। विषयभोग की धर्मविरुद्ध लालसा ही मानव का सबसे असली रिपु है। इन्हीं भोगभाव को वेद में वृत्र कहा गया है। यह हमारे सच्चे ऐश्वर्य का महान् शत्रु है। ये भोगभाव जब आत्मगत देवशक्तियों को घेर कर दबा लेता है, तब मनुष्य पापकर्म में प्रवृत्त होता है। मैंने अपने ब्राह्मण में वेदभावों के अनुसार वृत्र का अर्थ ऐसा ही लिखा है।

वृत्रो ह वा इदं सर्वं वृत्वा शिश्ये*

अर्थात्—ये पाप वासनाएँ सब को घेर कर अन्तःकरण में सोती हैं इसलिए ये वृत्र कहलाती है। ये धर्मविरुद्ध भोगभाव प्रबल होकर अपने तम से आत्मा को वशीभूत कर लेते हैं। तब मनुष्य नीचकर्म करने से नहीं

* मा. श. १-१-३-८

सकुचाता। इस प्रकार हमारा असली शत्रु पापाचरण करने वाला मनुष्य नहीं अपितु उसके अन्तः में वर्तमान भोगभाव है। जिनका मूल अज्ञान है। वेदों में इसी अज्ञानमूलक भोग वासना को ही वृत्रासुर कहा गया है। महर्षि इतना वक्तव्य देकर जब कुछ आगे कहने के लिए उद्यत हुए तो एक सौम्य शिष्य ने नम्रतापूर्वक पूछा—हे आचार्यपाद ! निरुक्त शास्त्र के प्रवक्ता महामुनि यास्क ने तो अपने शास्त्र में वृत्र का अर्थ मेघ बताया है जबकि आपने अपने ब्राह्मण में वृत्र का अर्थ आत्मा को घेर लेने वाली भोग-वासना किया है। इस प्रकार वेद के पाठक दुविधा में पड़ जायेंगे और कहेंगे एक आचार्य कुछ अर्थ करता है तो दूसरा कुछ और किस को ठीक माने किस को गलत।

महर्षि याज्ञवल्क्य बाले—प्रिय शिष्यगण ज्ञानी ऋषियों का मन्तव्य परस्पर विरुद्ध कभी नहीं होता। सब ऋषि वेद के ही नाना विध ज्ञानों का प्रकाश करते हैं। देखो परमेश्वर ने थोड़े शब्दों में बहुत ज्ञान का प्रकाश वेदों में किया है। एक ही शब्द समान गुण वाले सभी अर्थ तत्त्वों का बोध कराता है। मेघ (बादल) भी वृत्र है वह भी सूर्य प्रकाश को घेर लेता है। इस प्रकार एक वृत्र शब्द ही आन्तरिक ज्ञानशक्तियों का रोधक भोगभावों का वाचक है, तो स्थूल जगत् में वही वृत्रशब्द सूर्य किरणों के रोधक बादल का भी वाचक है। महामुनि यास्क का अभिप्राय भी इन दोनों ही प्रकार के अर्थों के ग्रहण में है। उन्होंने अपने ग्रन्थ के परिशिष्टभाग में अतिसुन्दर शब्दों में अपने अध्यात्माभिप्राय का प्रकाशन किया है। 'सोमः पवते' आदि अनेक मन्त्रों को उपस्थित करके यास्क ने सोम का अर्थ आदित्य (सूर्य) तथा आध्यात्मिक पक्ष में सोम का अर्थ आत्मा किया है। जैसे भौतिक बाह्यजगत् में सूर्य अपनी किरणों से प्रकाश देता है तथा सभी पृथिवी आदि ग्रह उपग्रहों को व्यवस्थित रखता है उसी प्रकाश अध्यात्म में आत्मा अपने प्रकाश से सब अङ्गों को प्रकाशित करता है और सबको अपनी शक्ति से चेष्टायुक्त करता है। बहुत विचार करके सभी ऋषियों ने यही सिद्धान्त माना है कि मन्त्रों का मुख्य तात्पर्य अध्यात्म में है। इसलिये मैंने अपने ब्राह्मण में आध्यात्मिक अर्थ को ही मुख्यता दी है। "बिना आत्मा के संस्कार के भौतिक विज्ञान कभी भी सुखहेतु सिद्ध नहीं होता। अकेला भूतविज्ञान मनुष्य को राक्षस बना देगा। आत्म संस्कार के विना उसका भौतिक ज्ञान उसे अपनी इन्द्रियों के भोगों में लिप्त कर देगा। वह अपने ज्ञानबल से दुर्बलों का पीडन करेगा। इस प्रकार एक दूसरे के पीडक

होकर सम्पूर्ण मनुष्य समाज दुःखसागर में गिर पड़ेगा। इसलिये मनुष्यों की आत्मा का संस्कार करना सबसे प्रथमस्थानीय कर्त्तव्य है। यही कारण है समस्त ऋषिमण्डल आत्म संस्कार करने के उद्योग में लगा रहता है। वह ज्ञान के पवित्र प्रकाश से वृत्र को छिन्न भिन्न करने का निर्देश देता है। इस प्रकार इन्द्र का प्रमुख अर्थ ऐश्वर्यगुणसम्पन्न सर्वजगत् का अधिष्ठाता परमेश्वर है। उसी परम इन्द्र देव के पवित्र ज्ञान से युक्त आत्मा भी इन्द्र है। वही ज्ञानवान् आत्मा ऐश्वर्य का अधिष्ठिता है। मनुष्यों में जो व्यक्ति सबसे बड़ा ऐश्वर्यशाली है, ज्ञानवान् है, सबका अधिष्ठाता है वह समस्तराष्ट्र का अध्यक्ष भी इन्द्र है। यह इन्द्र वृत्रवध के लिये सदा यत्नवान् रहता है। हमने वेदों के विज्ञान के अनुसार शतपथब्राह्मण के प्रथम काण्ड में वज्र के प्रमुख चार रूपों को प्रकट किया है। उनके नाम यूप, स्फ्य, रथ तथा शर हैं। इनमें पहले दो ब्राह्मण के वज्र हैं तो अन्तिम दो क्षत्रियों के वज्र हैं। इसलिये हमने लिखा है—

द्वाभ्यां ब्राह्मणा यज्ञे चरन्ति द्वाभ्यां राजन्यबान्धवाः संग्रामे।
यूपेन च स्फ्येन च ब्राह्मणा रथेन च शरेण राजन्यबन्धवः।*

अर्थात्—दो वज्रों का प्रयोग यज्ञ में ब्राह्मण करते हैं तथा दो वज्रों का प्रयोग क्षत्रिय युद्ध में करते हैं। श्रेष्ठ कर्मरूप यज्ञ के विस्तार में सबसे बड़ी बाधक (रुकावट डालने वाली) विषय भोग की वासनाएँ हैं। यह अपने जाल में फंसा लेने वाला वृत्रासुर अवसर पाते ही व्यक्ति को अधर्म में प्रवृत्त कर देता है। अच्छे अच्छे विद्वान् और समझदार लोग भी थोड़ा प्रमाद करते ही तुरन्त इस वृत्रासुर के शिकार हो जाते हैं और दारुण दुःखफलों को भोगते देखे गये हैं। व्यक्तियों में से इस वृत्रासुर को मार भगाने के लिये सदैव वज्रप्रहारों की आवश्यकता है। इस असुर की जड़ काटने का सबसे प्रमुख और प्रथम वज्र यूप है।

ऋषिपुत्र कण्व ने पूछा आचार्य देव! यूप का स्वरूप क्या है? यह वज्र किस भांति है? कर्मकाण्ड में तो पलाश (ढाक) की लकड़ी से एक मोटा-सा आदमी के कद जितना लम्बा खम्बा सा गाड़ा जाता है। याज्ञिक इसी से एक तूपर (विना सींग के बकरे) को बांधते हैं। भला यह निर्जीव काष्ठ स्तम्भ पाप वासना रूप वृत्र को मारने का वज्र कैसे हो सकता है?

ऋषि बोले—पलाश (ढाक) की लकड़ी से बना खम्बा यथार्थ यूप नहीं अपितु उसका प्रतीक (बोधक चिह्न) है। जो व्यक्ति इस काष्ठयूप के प्रतीयमान

* मा. श. १-२-४-२

अर्थ को नहीं जानता उसके लिये निश्चित रूप से यह काष्ठयूप गाड़ना निरर्थक है। यह अष्टकोण काष्ठयूप अति-महत्त्वपूर्ण अर्थ का प्रकाशक है। यूप के विना वृत्रासुर नामक महान् आत्मगत शत्रु का दमन सम्भव नहीं। हमने अपने ब्राह्मण में यूप के वास्तविक स्वरूप को प्रकाशित करने का पूर्ण प्रयास किया है। इन्द्रादि देव जिस विजयश्री का लाभ करते हैं उसका आधार यज्ञ है परस्पर मिलकर शुभकर्मों का सातत्येन (लगातार) अनुष्ठान करना यज्ञ है। देवगण को यह भय रहता है कहीं भोगवादी सामान्य लोग विजय के सूत्र यज्ञ को अपना कर भू-मण्डल को अपने अधिकार में न कर ले। जिस प्रकार मधु-मक्खियाँ शहद पीकर उड़ जाती हैं, उसी प्रकार देवलोग यज्ञभाव को उत्पन्न करने वाले ज्ञानरस का पान करके उस यज्ञ को यूप से संयुक्त कर देते हैं जिससे सामान्य भोगपरायण व्यक्ति यज्ञसार को ग्रहण नहीं कर सकते। एवं यज्ञ यूप से संयुक्त होने के कारण केवल देवों के द्वारा सेवनीय हो जाता है। यही कारण है कि प्राचीन ऋषियों ने यूप शब्द का भाव इस प्रकार किया है—

यदनेनायोपयन् तस्माद् यूपः*

अर्थात् जो कि इसके साथ यज्ञ को संयुक्त कर दिया अथवा इसके द्वारा यज्ञ को संरक्षित कर दिया इसलिये ही इसको यूप कहते हैं। इतना कहकर ऋषि ने जब विराम लिया तो कात्यायनीपुत्र ने पूछा—हे महर्षे ! यज्ञ का सार क्या है ?

ऋषि बोले—हाँ, यज्ञ के सार रस को समझना भी अत्याश्यक है। इसी यज्ञरस का पान करके देव नित्य यज्ञानुष्ठान की, शुभ कर्मों के करने की शक्ति प्राप्त करते हैं। देखो ! यज्ञभाव को नित्य शक्ति देने वाला रस यथार्थ ज्ञान है। यर्थाथ ज्ञान का प्रथम स्रोत वेद है। यह वेद ज्ञान स्वयं संसार के रचयिता भगवान् ने ऋषियों की आत्मा में प्रकाशित किया था। यही वेदज्ञान सब प्रकार के विज्ञानों का बीज है। उसी वेदज्ञान का प्रकाश पाकर ऋषिगण ने ज्ञान-विज्ञान के नाना शास्त्रों को रचा था। ऋषि परम्परा में उत्पन्न आचार्य उसी ज्ञान का विकास करते है और अपने शिष्यों को प्रदान करते हैं। इसी ज्ञान के प्रताप से नाना यन्त्रकलाओं का आविष्कार बुद्धिमान् करते हैं। जिससे मनुष्य बहुत प्रकार के सुखों को भोगते हैं। यथार्थज्ञान के वेत्ता ऋषि अपने शिष्यों को यह सच्चाई सबसे प्रथम समझा देते थे कि सब भौतिक साधन केवल इन्द्रिय सुखों के लिये नहीं अपितु परमशान्ति रूप स्वर् (मोक्ष) की प्राप्ति के

* मा. श. १-६-२-१

साधन ही मानने चाहिये। इसलिये ऋषियों ने यज्ञों का फल सुख प्राप्ति कथित नहीं किया। उन्होंने यज्ञों का फल स्वर्ग को ही बताया है। वैदिक ज्ञान से शून्य कुछ लोग स्वर्ग का अर्थ सुख समझते हैं। स्वर्ग का ठीक अर्थ है वे भौतिक अनुकूलताएँ हैं जिससे व्यक्ति स्वर् (मोक्ष) को प्राप्त करता है। जो आदमी केवल इन्द्रियसुखों के भोग तक सीमित रहता है वह देव नहीं अपितु असुर है ऐसे लोगों को अन्त में सुख नहीं दुःखभागी ही देखा गया है। ऋषिकुल में जन्मे आचार्य अपने शिष्यों की आत्मा को सबसे पहले यज्ञभावों को जीवन-रस देने वाले ज्ञानरस से पूरित करते हैं। उसके पश्चात् ही भूतविज्ञान का उपदेश करते हैं। देखो! यदि केवल भूतविज्ञान का उपदेश आचार्य जन करेंगे तो इन्द्रियभोगपरायण जन उस ज्ञान का दुरुपयोग करेंगे। वे उस ज्ञान के बल से नाना प्रकार के अस्त्रशस्त्र बनाकर अन्यों का शोषण व उत्पीड़न करेंगे। इतना नहीं अपितु इन्द्रिय भोगों में लिप्त होकर स्वयं भी रोगाक्रान्त होकर नाना क्लेश भोगेंगे। योगविद्या के साक्षात्कर्त्ता महर्षि पतञ्जलि ने इस विषय में अति सुन्दर चिन्तन किया है। उन्होंने अपने योगशास्त्र में स्पष्ट लिख दिया है—**सुखानुशायी रागः*** अर्थात् सुख के पीछे राग नामक क्लेश सोता है। जो व्यक्ति सुख का अनुभव करता है वह क्लेश का भागी जरूर होगा। जिस विषय से पुरुष सुख पाता है उस विषय के साथ उसकी निश्चित रूपेण लगाव हो जाता है। अतः मनुष्य उसी विषय सुख की लालसा से सदा क्लेषित रहता है। सुख हेतु द्रव्यों का सदा प्राप्त रहना भी संसार में सम्भघ नहीं। उन्हें प्राप्त करने के लिये अज्ञानमुग्ध व्यक्ति अकर्त्तव्य पाप कर्म का भी अनुष्ठान करता है जिसका परिणाम महाक्लेश के रूप में व्यक्ति को भोगना पड़ता है। इसलिये वैदिक ऋषि अपने अन्तेवासियों (शिष्यों) की आत्मा में सबसे पहले यथार्थ ज्ञान प्रतिष्ठित करते हैं। उनकी देवशक्तियों को आप्यायित करते हैं, वे उन्हीं शिष्यों को सब प्रकार की भूत विद्याओं को प्रदान करते हैं जो यथार्थ ज्ञान से दीक्षित होते हैं इसलिये ऋषियों ने ठीक कहा है कि यज्ञ को यूप से संयुक्त रहना चाहिये। ऋषियों के यह कहने का भाव यही है कि यज्ञ के कारणभूत ज्ञान को उसे ही प्रदान करना चाहिये जो यूप की शरण में आ गये हैं, जो उसके पवित्र ज्ञान के साथ बन्ध गये हैं। देखो वेदों में ज्ञानार्थी को ही पशु कहा है। यह शब्द पश धातु से बना है जिसका अर्थ है केवल सामान्य दर्शन करना। जैसे गाय बैल

---

* मा. श. १-६-२-१

** योग दर्शन २-७

वकरी आदि पशु केवल सामान्य दर्शन करते हैं इसलिये ऋषियों ने इनका नाम भी पशु रखा। जो व्यक्ति जिस विषय में ज्ञान शून्य है वह व्यक्ति उस विषय में पशु है। इन पशु सदृश मनुष्यों को किसी ज्ञानवान् के साथ बन्धना पड़ेगा। छोटा वालक प्रायः सभी विषयों में वोध रहित होता है। अतः वेद में उसे पशु कहा गया है।* ज्ञान प्रप्ति का समय भी आयु का पहला भाग ही उचित है। अतः वालक को निश्चित रूप से ज्ञानरस का लाभ करने के लिये आचार्य की शरण में जाना होगा। इसी ज्ञानप्रदाता आचार्य का ही नाम वेद की भाषा में यूप है। व्याकरण के आचार्य इस यूप शब्द को यु धातु से सिद्ध करते हैं। यु का अर्थ है मिलाना तथा अलग करना।** वस आचार्य (यूप) के दो ही मुख्य कार्य हैं वह शिष्य को यथार्थ ज्ञान से युक्त करता है तथा अज्ञान से अलग करता है। हमने अपने शतपथ ब्राह्मण में 'यूपसम्पादन' नाम का एक स्वतन्त्र ब्राह्मण (पाठ) लिखा है। उसमें आचार्य पद पर कैसे विद्वान् को प्रतिष्ठित करना चाहिये यह मन्त्रभावों के अनुरूप लिखा है। काष्ठयूप के निर्माण के व्याज (Semblance) से ऋषियों ने एक सच्चे आचार्य के गुणों को प्रकट किया है। एक शिष्य ने विनयपूर्वक पूछा आचार्यपाद यूप का निर्माण पलाश (ढाक) की लकड़ी से करते हैं। पूलाश का सम्बन्ध आचार्य से क्या हो सकता है ?

आचार्य याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—शिष्य गण ! यह तो तुम जानते हो कि संसार के सब पदार्थों का नाम ऋषियों ने वेद के शब्दों से रखा है। उन्होंने पदार्थों के नाम यों ही नहीं रख दिये। अपितु ऋषियों ने गुणों के आधार पर ही नामकरण किया था। अभी थोड़ा काल हुआ है। व्यास शिष्य जैमिनि ने एक शास्त्र रचा है। उसका नाम पूर्वमीमांसा है। उसमें श्रुतिवाक्यों की संगति पर विचार करके सूत्रों में सिद्धान्त का निश्चय किया है।

इस बात पर भी अनेक ऋषियों से जैमिनि ने विचार विमर्श किया कि यूप का उपादानभूत पलाश क्यों है। तब सब ऋषियों ने यही सिद्धान्त स्वीकार किया कि पलाश आदि सब नाम गुणों के आधार पर हैं। वास्तव में पलाश शब्द ढाक नामक वृक्ष का वाचक होकर प्रकट नहीं हुआ अपितु वह किन्हीं गुण विशेषों का बोधक शब्द है। वे गुण कुछ कुछ इस ढाक के वृक्ष में ऋषियों ने देखे तो इसका नाम भी पलाश रख दिया। वस यही बात सभी

---

* यजुर्वेद ६-६ के व्याख्यान में शतपथकार ने लिखा है—दैव्यो वा एता विशो यत् पशवः ॥ मा. श. ३-७-३-१०

** यु मिश्रणामिश्रणयोः पाणिनीय धातुपाठ अदादिगण २६

पदार्थों के नामों के विषय में समझनी चाहिये। इसलिये जैमिनि ने सूत्र बनाया—

गुणात् सञ्ज्ञोपबन्धः।*

अर्थात्—सब पदार्थों की सञ्ज्ञा (नाम) गुणों के कारण ही रखी है। इतना ही नहीं शब्दशास्त्र के बड़े-बड़े आचार्य भी इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन सदा से करते आये हैं कि—**सर्वं एते शब्दा गुणसमुदायेषु वर्तन्ते****

अर्थात् सारे सञ्ज्ञावाची शब्द गुणसमुदाय को प्रकट करने वाले हैं।

सुशील कात्यायनी पुत्र ने पूछा महर्षे! पलाश शब्द किन गुणों का प्रकाशक है, यह हम कैसे जानें?

ऋषि बोले, ऋषिपरम्परा ने इस अर्थविज्ञान की सदा रक्षा की है। ऋषियों ने अनेक ग्रन्थों का प्रवचन शब्दों के सही अर्थों को प्रकट करने के लिये किया है ऋषि परम्परा बताती है कि पलाश शब्द मन्त्रों के ज्ञानधारक का वाचक है। ज्ञानधारण करने वाले के लिये दो गुण आवश्यक हैं एक ग्रहणशीलता (Nature of catching) में दूसरा तप। विना तप के ज्ञान ग्रहण सम्भव नहीं। ग्रहणशीलता के अभाव में तपोऽनुष्ठान करना भी सम्भव नहीं। ऋषियों ने स्थूल रूप से ये दोनों गुण जब (ढाक) में देखे तो इसका नाम भी पलाश रख दिया।

माध्यन्दिन नामक शिष्य ने जिज्ञासा प्रकट की—हे आचार्यदेव! जड़ वृक्ष में ज्ञानधारण का सामर्थ्य कैसे हो सकता है? ये गुण तो मनुष्य ही धारण कर सकता है।

ऋषि ने शांतभाव से उत्तर दिया—तुम ठीक कहते हो। वस्तुतः जड़ प्रकृति वृक्षों में ज्ञानधारण का गुण नहीं हो सकता। इसलिये तो ऋषि कहते हैं वेदमन्त्रों का मुख्यार्थ भौतिक नहीं अपितु अध्यात्म में ही है। परन्तु स्थूल रूप में ये गुण पलाश वृक्ष में भी दृष्टिगोचर होते हैं अतः इसका नाम भी पलाश रखा गया है। देखो स्थूल जगत् में पदार्थों का बोध विना प्रकाश के नहीं हो सकता। प्रकाश अग्नि का गुण है। इसलिए अग्नि ज्ञान कराने वाला देव है। भौतिक अग्नि तो पदार्थ के स्थूलरूप का ही ज्ञान दाराती है, पर मंत्र ज्ञान पदार्थ के सूक्ष्म गुणों का बोध कराता है। इस प्रकार मन्त्रों के

* पूर्व मीमांसा २-३-१०

** पातञ्जल महाभाष्य २-२-६

ज्ञान को वेद में अग्नि कहा है। यह ज्ञान मनुष्य को सदा सुपथ का बोध कराता है। मन्त्रज्ञान से शून्य व्यक्ति भौतिक प्रकाश को पाकर भी गढ़ों में गिरा देखा जाता है। पलाश वृक्ष की लकड़ी स्थूल भौतिक अग्नि को शीघ्र ग्रहण करती है तथा अधिक समय तक धारण रखती है। इसी प्रकार आचार्य बनाने योग्य व्यक्ति वही हो सकता है जो मन्त्रज्ञान को शीघ्र ग्रहण करने में समर्थ हो और चिरकाल तक उसे विस्मृत न होने देने का सामर्थ्य रखता हो। पलाश वृक्ष का दूसरा गुण है तप। चाहे पानी मिले चाहे नहीं, यह वृक्ष म्लान नहीं होता। हमने इस वृक्ष को बड़े-बड़े अकालों में भी अविचल देखा तथा पानी में भी इसे महीनों खड़ा देखा। अन्य वृक्ष गल कर सूख गये पर यह डटा है। इस प्रकार पलाश का वृक्ष एक सच्चे ब्राह्मण के गुणों का प्रकाशन करने वाला वृक्ष है। यथार्थता यह है कि ये भौतिक पदार्थ अपने नामों का व्याख्यान करने वाले है। पलाश वृक्ष का बना यूप यह सूचना देता है कि आचार्य ब्राह्मण वर्ण का ही होना चाहिए। मन्त्रभावों का प्रकाशन करते हुए याज्ञिक यूप काष्ठ की खोज में जंगल में जाते हैं। जहाँ हजारों पलाश वृक्ष खड़े हैं। उन वृक्षों में से जो ऋजु (सीधा) है बहुपर्णों वाला है, उसे यूप के लिए ग्रहण करते हैं। इसका भाव है आचार्य का चुनाव हजारों ब्राह्मणों के मध्य में उसी का करना चाहिए जो सबसे ऋजु हो सबसे अधिक पर्ण (पत्ते) रूपी ज्ञानों से युक्त हो। वेद यहाँ कहता है—

अत्यन्यान् अगाम् नान्यानुपागाम्*

अर्थात्—हे विद्वान् बहुतों को छोड़कर हम तुम्हारे पास आये हैं। तुझ सरल एवं बहुज्ञानवान् को पाकर अब हम अन्य किसी के पास नहीं जायेंगे। मन्त्र ने आगे फिर कहा—

तन्त्वा जुषामहे देव वनस्पते देवयज्यायै

हे वनस्पते! हे वन वृक्ष तुल्य शिष्यों के रक्षक! हम तेरा ग्रहण देवयजन के लिए, दिव्यगुण शक्तियों की प्राप्ति के लिये करते हैं। तेरी छत्र-छाया में असंख्यक छात्र यथार्थज्ञान पाकर शुभ कर्म रूप यज्ञ का विस्तार करेंगे। देखो यागों में अष्टकोण का यूप बनाया जाता है। इसका एक-एक कोण गायत्री छन्द का एक-एक वर्ण है। प्रिय शिष्यगण! गायत्री छन्द का एक एक अक्षर वृत्रवध करने के लिये वज्र की तेज धार है। जिस राष्ट्र में इस पवित्र ज्ञान से सम्पन्न आचार्य अपने शिष्यों के हृदय में यथार्थ ज्ञान का प्रकाश

* यजुर्वेद ५-४२

करता है वहाँ भोगवासना रूप वृत्रासुर के पैर उखड़ जाते हैं। ज्ञानवज्र के प्रहार से वृत्रासुर वशवर्ती हो जाता है। परन्तु मैं देखता हूँ कुछ ग्राचार्य तप को छोड़कर धन के लोभ में राजकुमारों को केवल युद्ध जीतने की विद्या सिखाने में लग गये हैं। मैं समझता हूँ अब ग्रार्यावर्त के पतन का युग ग्रा रहा है। मैं एक बार ग्राचार्य द्रोण के कुल में गया तो देखा ग्रब द्रोण के विद्याकुल में यजनभाव गौण हो गहा है। संहारकारी भयङ्कर अस्त्र-शस्त्रों के निर्माण तथा उनके सञ्चालन की विद्या का ही बोल-वोला है। मैंने बहुत समझाया हे द्रोण ! तुम ऋषि परम्परा का त्याग करके महान् पाप के बीज बो रहे हो। यज्ञभाव ने शून्य राजपुत्र को भी धनलाभ की कामना से तुम युद्ध विद्या की शिक्षा दे रहे हो। एक दिन ग्रायेगा तू स्वयं इस पापवृक्ष पर भयङ्कर जहरीले फल लगे देखेगा। यह तुम्हारा राजसुख भोग दुःख परिणामी होगा। द्रोण ! वेद तो कहता है—**देवयज्यायै**—देवयजन के लिये आचार्य होता है। वेद की आज्ञा का उल्लङ्घन पाप है द्रोण।

शिष्यगण ! देखो वैदिक ऋषियों ने यूप के चार भाग किए हैं। एक भाग यूप का मिट्टी में दबा रहता है दूसरा भाग जहाँ पशु बाँधने की रस्सी बंधी होती है वहाँ तक है। तीसरा भाग रस्सी से लेकर ऊपर तक जहाँ चषाल लगा होता है वहाँ तक तथा चौथा भाग चषाल से ऊपर जो दो या तीन अंगुल चोटी सी होती है वह है।

इसके पहले भाग से पितृलोक को जीता जाता है। दूसरे भाग से मनुष्यलोक को, तीसरे भाग से देवलोक को तथा चौथे भाग से साध्यदेवों के लोक को जीता जाता है।

एक शिष्य ने पूछा—महर्षे ! इन लोकों का स्वरूप क्या है ? तथा आचार्य इन्हें कैसे विजित कराता है ? यह विशद (Clear) करके बताये।

ऋषि बोले—सुनो ! पितृलोक क्षीणता का लोक है। बड़े माता पिता ग्रादि को पितर कहते हैं। वे कार्य करते हुए क्षीणता को प्राप्त करते हैं। ग्रत: क्षीणता का भाव शिष्यों में न ग्रा जाये इसके लिये यूप का सबसे नीचे का भाग है। ग्राचार्य का कर्त्तव्य है कि वह शिष्य के यथेष्ट पुष्ट भोजन की व्यवस्था करे। परन्तु यह भाग ग्राचार्य का छिपा हुग्रा है। इसका भाव यह है कि छिपे रूप में ही यह कार्य ग्राचार्य को करना है। शिष्य को यह भान नहीं होना चाहिये कि आचार्य तो हम पर अतिकृपालु है वह हमारे दोषों को भी सहन कर लेगा। आचार्य को प्रत्यक्षरूप से वज्र तुल्य दोषघातक रहना

चाहिये तथा अदृश्य रूप से अपने शिष्यों का शरीरपोषक भी होना चाहिये क्योंकि ज्ञान तत्त्व का आलम्बन भी आखिर प्राण, जल, एवं अन्नादि के सार भाग से ही निर्मित होता है। दुर्बल प्राण तथा शरीर वाला शिष्य कभी ज्ञान का सम्यक् धारण नहीं कर सकता। अतः आचार्य का प्रथम कर्त्तव्य है कि वह शिष्य को क्षीणता के लोक से सुरक्षित रखे। आचार्य का दूसरा कर्त्तव्य है कि वह शिष्य को अपनी शारीरिक आवश्यकताओं को पूर्ण करने का ज्ञान भी प्रदान करे।

आचार्य केवल आध्यामिक विद्या ही नहीं अपितु भौतिक अभ्युदय की प्राप्ति तथा उसके संरक्षण की विद्या का भी दान करे। बिना भौतिक साधनों के भी आत्मज्ञान का लाभ सम्भव नहीं। इससे आचार्य शिष्यों में मनुष्य लोक को जीतने का सामर्थ्य प्रदान करता है। यूप का तीसरा भाग अति प्रमुख है इसी भाग से ज्ञानार्थी बालक को आचार्य अपने हृदय से बान्धता है और उसका सञ्ज्ञपन (सम्यक् बोधन) करता है। देवयजन के सम्यक् परिज्ञान से युक्त होकर ही शिष्य देवलोक को जीतता है। यही देवलोक स्वर्गलोक है। यही वह पवित्र लोक है जिसमें व्यक्ति अपने कर्त्तव्य का पालन करता है। भोगभाव यहाँ मर्यादा का अतिक्रमण नहीं करते। जिसको जितना भोग्य पदार्थ आवश्यक है उतना उसको मिलता है। युवा वृद्धों की सेवा और सम्मान करते हैं। देवलोक में सब सुखी हैं। अपने कर्त्तव्य में तत्पर हैं। असुर लोक की स्थिति इससे सर्वथा भिन्न है। वहाँ कोई भूखा मर रहा है तो कोई खा-खाकर रोगग्रस्त है। सभी अपने भोगों के लिये उन्मत्त हैं फिर बूढ़ों की सेवा कौन करे। अतः वेद ने असुर वृत्र के लिये वज्र प्रहारों का विधान किया। वज्रों में यूप वह प्रथम वज्र है जो वृत्र को जड़ से ही उखाड़ता है। वह आचार्य यूप अपने पवित्रज्ञान के वज्र प्रहार से शिष्य की आत्मा में अंकुरित होने वाले वृत्र के बीज अज्ञान का ही नाश करके उसकी आत्मा में देवयजन का पवित्रज्ञान प्रतिष्ठित करता है।

आचार्य का चौथा भाग यद्यपि थोड़ा सा है पर वह सर्वोपरि है। आचार्य का यह भाग साध्य देवों का है। आचार्य का सर्वोपरि कर्त्तव्य है कि वह अपने शिष्यों के हृदय में मानव जीवन के परमसाध्य की भी प्रतिष्ठा करे। मानव जीवन का परमसाध्य मोक्ष प्राप्ति है। जिस समाज में मोक्ष प्राप्ति का परम लक्ष्य नहीं होता वह समाज अन्त में भोगपरायण होकर नष्ट हो जाता है। इस प्रकार आचार्य चारों प्रकार का ज्ञान अपने शिष्यों के हृदय में प्रति-

ष्ठित करके असुर भावों को सदा के लिये नष्ट कर देता है। इसलिये इन्द्र जिस वज्र का प्रहार वृत्र को मारने के लिये करता है उसमें सबसे प्रथम ब्राह्मणों का वज्र यूप है। यह अस्त्र-शस्त्रों से नहीं अपितु अपने ज्ञानशास्त्र से वृत्र का नाश करता है। ब्राह्मणों का वज्र यूप क्षत्रियों के तीक्ष्ण बाणों से भी अधिक प्रभावो है। क्षत्रियों के पैने बाणों का प्रहार केवल स्थूल देह का छेदक हो सकता है सूक्ष्म आत्मगत वृत्र भावों का नहीं। इसके विपरीत ब्राह्मण का शत्रुधाती वज्र यूप आत्मगत वृत्र का ही छेदन करने में समर्थ है। ऋषि ने इतना कहकर अपना प्रवचन समाप्त किया। प्रबुद्ध शिष्यों के मुख से निकला अनुगृहीत हुये। ब्राह्मण के शत्रुधाती वज्र यूप का सही स्वरूप का ज्ञान हो गया। हमारे मुख से भी सहसा निकल गया सञ्ज्ञप्ताः (समझ गये)।

सप्तम पथ

देवों में सबसे श्रेष्ठ देव कौन ?

दिव्यगुणशक्तियों का नाम देव है। ये शक्तियाँ हमारे मस्तिष्क में रहती हैं। इनकी प्रेरणा से ही मनुष्य धर्मरूप यज्ञ के अनुष्ठान में प्रवृत्त होता है। ये देव कितने हैं यह जान सकना तो आसान नहीं। एक बार विदेहराज जनक ने एक महायज्ञ किया। यज्ञ की समाप्ति पर विदेहराज जनक ने घोषणा की—हे ऋषिगण ! ये एक हजार बहुमूल्य गायें हैं। मैं इन्हें सबसे बड़े वेदवेत्ता को दक्षिणा में देना चाहता हूँ। जो ब्रह्मिष्ठ (सबसे बड़ा तत्त्ववेत्ता) हो वह इन गायों को हांक ले जाये।

महाराज की इस घोषणा को सुनकर समस्त ऋषिमण्डल असमञ्जस में पड़ गया। भला कौन इतने बड़े बड़े विज्ञानियों में अपने को ब्रह्मिष्ठ घोषित करने का साहस कर सकता था। महाविज्ञानी याज्ञवल्क्य ने मौन को तोड़ा। उन्होंने अपने एक शिष्य को गौ हांकने का आदेश दे दिया। तब सब ऋषियों के मुख से आश्चर्यपूर्ण शब्द निकले—हे याज्ञवल्क्य ! क्या तुम अपने को सबसे बड़ा ब्रह्मिष्ठ मानते हो ? याज्ञवल्क्य बोले—ऋषिगण ! ब्रह्मिष्ठ को मेरा नमस्कार हो। मैं तो बस गोकाम (Willing of cows) हूँ।

इतना कहने पर भी ऋषिगण को यह अच्छा नहीं लगा कि एकाकी याज्ञवल्क्य समस्त गायों को अपने आश्रम में ले जाये। पर किस की हिम्मत जो महाविद्वान् याज्ञवल्क्य से ब्रह्मोद्यसमर में उतर कर सिद्ध करे कि मैं याज्ञवल्क्य से बड़ा ब्रह्मिष्ठ हूँ। कुछ ऋषियों ने ख्यातनामा विदग्ध शाकल्य पर दृष्टि डाली। प्रगल्भ विद्वान् शाकल्य खड़ा हुआ और बोला—हे याज्ञवल्क्य ! तुम इस प्रकार गायों को नहीं ले जा सकते। मैं तुमसे प्रश्न करूंगा। याज्ञवल्क्य ने शान्त भाव से कहा—हे विदग्ध शाकल्य ! अधजली लकड़ी जैसे अग्नि से बाहर निकाल लेने पर बुझ जाती है, उसी प्रकार ये ऋषि तुझे कर रहे हैं। पर विदग्ध शाकल्य नहीं रुक सका। उसने याज्ञवल्क्य को ज्ञानयुद्ध में पछाड़ देने की महती लालसा से जटिल प्रश्न पूछने प्रारम्भ किये। हे याज्ञवल्क्य ! बताओ

देव कितने हैं ? तब याज्ञवल्क्य ने पहले ३३ सौ देव बताये दूसरी बार ३३, तीसरी बार तीन, चौथी बार दो, पांचवी बार डेढ और अन्त में केवल एक ही प्राण को देव बताया। जब विजिगीषु (जीतने के इच्छुक) शाकल्य ने पूछा हे याज्ञवल्क्य ! बताओ ३३ सौ देव कौन कौन से हैं ? तब याज्ञवल्क्य ने शान्तभाव से उत्तर दिया–विदग्ध शाकल्य ! दिव्यज्ञान रूप देवशक्तियाँ अति सूक्ष्म तथा सर्वतोभावेन (Entirely) ज्ञेय नहीं हैं। वास्तव में ज्ञेय-अनुभवनीय प्रमुख देवशक्तियाँ ३३ ही हैं। इन सब देवशक्तियों का एक ही महान् देव आदि स्रोत (Fountain head) है जिसको प्राण कहा जाता है। जैसे भौतिक प्राण सकल जीवों के शरीर का धारक तथा चालक है वैसे ही समस्त ज्ञान शक्ति रूप देवों का कारणभूत परमेश्वर है उसे ही वेदों में प्राण कहा गया है। समस्त ऋषिमण्डल याज्ञवल्क्य की तत्त्ववेतृता पर चकित था। विदग्ध शाकल्य का विजिगीषाभाव (Desirousness of Victory) टूट गया। याज्ञवल्क्य धीर स्वर में बोले—शाकल्य ! विजिगीषाभाव से तूने अतिगूढ प्रश्नों को पूछा है, जाओ आने वाली तिथि में तुझे तेरे प्राण छोड़ देंगे। तेरी अस्थियों तक को भी कोई तेरे घर तक भी नहीं पहुँचा सकेगा और समस्त ऋषिमण्डल ने देखा विदग्धशाकल्य पराजय की असह्य वेदना को सह न सका और अगले दिन उसके प्राण पखेरु उड़ गये। शाकल्य शिष्य उनकी अस्थियों को लेकर जा रहे थे तो चोरों ने धन समझ कर उन्हें भी चुरा लिया। यह भी ऋषियों ने सुना। उनके मुख से सहसा निकल गया कभी भी विजिगीषाभाव से प्रश्न नहीं पूछने चाहिये।

वस्तुतः देवशक्तियों को साकल्येन समझ सकना सरल नहीं। जैसे स्थूल प्राणवायु एक है पर वही नासिका द्वारा से अन्दर प्रविष्ट होकर प्राण, अपान, व्यान, समानादि नाना रूप धारण कर लेता है। फिर इन्हीं प्राणों से नाना प्राणशक्तियाँ उत्पन्न होती हैं। जिनके कारण आंख देखती हैं तो कान सुनते हैं। इसी प्रकार शिरोगत देवशक्तियाँ जो ज्ञान रूप हैं उनका भी कारण एक महान् देव है वह सर्वज्ञ परमेश्वर है। वही सब प्रकार के ज्ञान का आधार भूत अलौकिक (Unworldly) महान् देव प्राण है। यही सर्वविध ज्ञानों का कारणभूत परमप्राण ही मनुष्य के मस्तिष्क में आकर नाना देवशक्तियों का रूपधारण करता है। यही परमप्राण अग्निदेव का प्रथम सर्जक है। अग्निदेव ज्ञान प्रकाश से सुपथ का बोध कराता है। इसी प्राण तत्त्व से मस्तिष्क में इन्द्रदेव का प्रादुर्भाव होता है जिससे मनुष्य में अधिष्ठातृता का भाव जागृत होता है। इसी प्राण तत्त्व से रुद्र देव

की उत्पत्ति होती है जिससे मनुष्य दुष्टों से युद्ध करने की सतत प्रेरणा का लाभ करता है। विष्णु देव भी इसी प्राण से उत्पन्न होने वाला देव है। यह विष्णु देव मनुष्य को परहित के लिये सदा प्रेरणा करता है। सामुदायिक कल्याण की पवित्र भावना को उत्पन्न करता है। जिससे मनुष्य श्रेष्ठ कर्मरूप यज्ञ के लिये अपने आपको समर्पित कर देता है। इन देव शक्तियों में सबसे श्रेष्ठ कौन है ? सचमुच एक जटिल प्रश्न है। सामान्य रूप से अग्नि देव का स्थान प्रथम दिखाई देता है। अग्नि ज्ञान का देव है। वह ज्ञानप्रकाश देकर सच्चे मार्ग का बोध कराता है। ज्ञानशून्य लाखों लोग भी दुनियां में कुछ विजय लाभ नहीं कर सकते। बलिष्ठ स्वस्थ एवं नाना अस्त्र शस्त्रों से सज्जित मूढ लोग धरती पर पराजय का ही मुंह देखते हुये हैं। ज्ञानविहीन करोड़ों लोग दीनता और गुलामी का दारुण दुःख ही भोगते हैं। उनका वीरभाव अन्त में हार की धूल चाटता देखा गया है। यह देखो पृथ्वीराज चौहान है इसकी वीरता का क्या कहना। सैंकड़ों वीरों को यह अकेला धूल चटा देता है। इसका युद्ध कौशल अनुपम है। इसके भाले के प्राणलेवा वार वीरमानियों के दिल को दहला देते हैं। इसके बाणों का निशाना अचूक है। शत्रु पर यह साक्षात् रुद्र बन कर टूट पड़ता है। बहुत से भूखण्ड का विजेता मोहम्मद गोरी कई बार इससे हार खा चुका है। गोरी के भारत विजेता बनने के सुनहरी सपने पृथ्वीराज ने मिट्टी में मिला दिये। प्रजा इसकी वीरता पर मुग्ध है। वह अपने महाराजा की जीत के लिये दधकती आग में कूदने को तैयार है। उनका सब कुछ अपने महाराज के लिये अर्पित है। फिर समाचार मिला मोहम्मद गोरी एक बहुत बड़ी सेना लेकर भारत की ओर बढ़ रहा है। गोरी का दिल भारत जीतने के लिये तड़प रहा है। अपनी लालसा को पूर्ण करने के लिये दिन रात सोचता है। मजहब के नाम पर मर मिटने का मन्त्र अपने सैनिकों में फूकता है। उन्हें भारत के ऐश्वर्य को लूट लेने का लुभावना लालच दिखाता है। धन लोभी गोरी के सैनिक विजय के लिये मर मिटने को तैयार हैं। पर इधर चौहान की वीर सेना युद्ध के लिये तैयार है। इसका मुकाबला करना आसान नहीं। अपने महाराज के लिये ये सर्वतोभावेन समर्पित हैं। गौरी यह समझता है कि इन भारतीय वीरों को प्रत्यक्ष युद्ध में हरा देना सम्भव नहीं। फिर भी वह भारत की राजधानी दिल्ली को जीतने की इच्छा से आगे बढ़ रहा है। सेनापतियों ने अपने सम्राट् पृथ्वीराज को सूचना दी—महाराज ! गौरी यवन सेना को लेकर पुनः दिल्ली की ओर आ रहा है। पृथ्वीराज को विश्वास नहीं कि

कई बार हार का काला मुख देखने पर भी गोरी दिल्ली को जीतने की इच्छा कर सकता है। पर सेनापतियों ने कहा सम्राट् वह दुष्ट यवन पञ्चनद (पञ्जाब) प्रदेश में घुस आया है। दुर्बलशत्रु की भी उपेक्षा करना ठीक नहीं महाराज। पृथ्वीराज ने वीरतापूर्वक निर्देश दिया सेना तैयार करो। गोरी अपनी नीचता से बाज नहीं आयेगा। इस बार मैं उसे जिन्दा नहीं जाने दूंगा। तरावड़ी नामक गांव के मैदान में वीर चौहान ने गोरी का बढ़कर रास्ता रोक दिया। आमने सामने युद्ध के लिये दोनों सेनाएँ तैयार हैं। पृथ्वीराज के प्राण लेवा प्रहारों का भय गोरी को सताने लगा। उसकी हिम्मत युद्ध करने की नहीं हो रही। इतने में कन्नोज के देशद्रोही राजा जयचन्द का कोई दूत गोरी से मिला। उसने गोरी को बताया यवनराज! पृथ्वीराज जहाँ वीर है, युद्ध विद्या में पारङ्गत है वहाँ मूर्ख भी है। बुद्धि की दूरदर्शिता इसमें नहीं है। यही कारण है इसने अपने मोसेरे भाई की पुत्री समान कन्या का अपहरण कर लिया और सदा-सदा के लिये भाई को शत्रु बना लिया। गोरी प्रत्यक्ष युद्ध में पृथ्वीराज को जीत लेना सुगम नहीं। यदि तुम इसे जीतना चाहते हो तो बुद्धि से जीतो। गोरी को अन्धेरे में प्रकाश मिल गया। उसकी विजयाङ्क्षाक्षा को राह मिल गई। एक चतुर दूत को पत्र देकर पृथ्वीराज के पास भेजा। दूत शाम को राजपूत छावनी में पहुँचा। आज्ञा पाकर उसने पत्र पृथ्वीराज के हाथ में दिया। पत्र क्या था एक मिथ्या सन्धि पत्र था। पर अज्ञान के तम ने पृथ्वीराज की बुद्धि को घेर लिया। पृथ्वीराज का अभिमान सागर के ज्वार के समान उफन पड़ा। पृथ्वीराज ने सेनापतियों को सम्बोधित करते हुए कहा देखो मैंने पहले ही कहा था गोरी मेरे से युद्ध करने की हिम्मत नहीं कर सकता। उसने पत्र भेजा है। वह विनयपूर्वक लिखता है—हे दिल्ली के बादशाह वीर चौहान! मैं इस बार आपसे जंग करने के इरादे से मैदान में नहीं उतरा हूँ। मैं तो आपकी ख़िदमत में सन्धि का पैगाम लेकर आया हूँ। तुमने जो दया की भिक्षा गत युद्ध में मुझे प्रदान की थी उसके लिए मैं पञ्चनद प्रदेश के कुछ सूबे तुम्हें प्रदान करके अपना कर्ज उतारने के पाक इरादे से हाजिर हुआ हूँ। कपट सन्धि पत्र को पाकर पृथ्वीराज तथा उसके समस्त वीर योद्धा मस्त हैं। कहीं शराब के प्याले खड़खड़ा रहे हैं तो कहीं अफीम के नशे में झूम रहे हैं। अज्ञानमोहित पृथ्वीराज भी अफीम के नशे में झूम गया। किसे पता था आज भारत का इतिहास एक लम्बे दुःखदायी अध्याय में प्रवेश करने जा रहा है। कौन जानता था सदा-सदा से स्वतन्त्रतासुख का भोगी भारत अब क्लेशपूर्ण पराधीनता के

पाश में चिरकाल के लिए बन्धने जा रहा है। कौन सोचता था राम और कृष्ण की पवित्र भूमि गोहत्यारे विदेशियों के पदाक्रांत होने जा रही है। किसने विचारा था ऋषियों के पवित्र मन्त्र घोष के स्थान पर अब भारत भूमि में दूर देश की अरवी भाषा के वोल गूंजने जा रहे हैं। किसके मन में आया था कि अब भारतीय बालाओं का सतीत्व लूट लिया जायेगा। अज्ञान का महादुःखपरिणामी अन्धेरा छा गया। ज्ञाननेत्र अन्धे हो गए। रात्रि के गाढ़ अन्धकार ने मानो अज्ञान को रसपान करा दिया। सारी राजपूत छावनी में किसी के भी मन में शत्रु के छल का विचार नहीं आया। ऐसे बुरे समय में गोरी ने राजपूत छावनी पर हमला बोल दिया। कुछ राजपूत वीर सोते-सोते मारे गये। जो उठे वे भी नशे में कुछ नहीं कर सके। कुछ लोग दौड़े-दौड़े अपने वीर राजा के पास गये। पर राजा तो उठने का नाम नहीं लेते। चारों तरफ हा-हाकार मच गया। अफीम के नशे में झूम रहा वीर पृथ्वीराज कुछ नहीं कर सका। असंख्य वीर सैनिक अनायास ही यवनों ने मौत के घाट उतार दिए। वीर पृथ्वीराज अफीम के नशे में पकड़ा गया। मजबूत लोहे के तारों से जकड़ कर उसे गोरी के नापाक चरणों में डाल दिया। जो सुनता वही हैरान है, स्तब्ध है, यह क्या घटित हो गया। एक ही रात में भारत का भाग्यसूर्य चिरकाल के लिये अस्त हो गया। दुर्भाग्य के पत्थर बरसाने वाले काले बादलों ने भारतभूमि को घेर लिया। इसका कारण क्या है? बुद्धिमान् विचार कर रहे हैं। विचारने पर पता चला कि ठीक राह बताने वाली ज्ञान-शक्ति (अग्नि देवता) का अभाव ही इस दुर्दशा का कारण था। सब व्यसनों का मूल भी तो अज्ञान ही है। योगदर्शन के प्रवक्ता महामुनि पतञ्जलि से जब पूछा गया कि सब क्लेशों का मूल क्या है? तो ऋषि ने तुरन्त ही कहा—**अविद्याक्षेत्रमुत्तरेषाम्*** अर्थात् सब क्लेशों का उत्पत्तिक्षेत्र यह अविद्या है। अग्नि ही वह देव है जो अविद्या की जड़ों को काट कर मनुष्य को सुपथ का बोध कराता है। देखो वेदवेत्ता महर्षि याज्ञवल्क्य ने अग्नि देव की शक्ति का वर्णन करते हुए लिखा है—**अग्निर्वै रक्षसामपहन्ता**** अर्थात् अग्नि राक्षसी भावों को मार भगाने वाला महान् देव है। जैसे घनघोर अन्धेरे में छोटा-सा दीपक भी वस्तुओं का बोध करा देता है, अनिष्ट का निवारण कर देता है। वैसे ज्ञान का प्रकाश भी मनुष्य को महाविनाश से बचा देता है। वह मनुष्य

---

* योगदर्शन २-४

** मा. श. १-२-१-६

को दुर्व्यसनों से बचाकर कल्याण प्रदान करता है। इतना ही नहीं महर्षि याज्ञवल्क्य ने अग्नि को देवों में प्रत्यक्षफलप्रदाता देव कहा है। ज्ञानग्नि का प्रकाश मिला नहीं और मनुष्य तुरन्त उसका फल लाभ कर लेता है। ज्ञानी सन्त इसी फल से सदा तृप्त रहते हैं और वे अन्य फलों की कामना नहीं करते। अग्नि देव के इन गुणों को देखकर बहुत से विद्वान् इस अग्नि देव को सबसे श्रेष्ठ समझते हैं। पर अन्य देवों की महत्ता भी कम नहीं। प्रजापति को सब देवों में पिता के समान कहा है तो इन्द्र को सब ऐश्वर्य का अधिष्ठाता। भला बिना ऐश्वर्य के, भोग सामग्री के जीवनयापन की कल्पना नहीं की जा सकती। ज्ञानियों को भी आखिर दूध फलादि भक्ष्य पदार्थ तो चाहिए। इसलिए ऐश्वर्य के प्रापक इन्द्र देव की महिमा भी वेदों में बार-बार गाई है। विष्णु देवता की महिमा भी कम नहीं। ऋषियों ने उसे साक्षात् यज्ञ ही कहा है। यज्ञ भावों से निरपेक्ष सहस्रों विद्वान् भी कुछ नहीं कर सकते। यही कारण है विष्णु देव का महिमागान ऋषि ग्रन्थों में बार-बार किया है। ऋषियों के इन विविध प्रकार के महिमावचनों को सुनकर हम निश्चय नहीं कर पाये कि वस्तुतः देवशक्तियों में सबसे श्रेष्ठ देवशक्ति कौन सी है? किसी ने कहा महर्षि याज्ञवल्क्य अपने युग के सबसे बड़े वेदवेत्ता ऋषि थे। उन्होंने देवों के सही भाव को समझा था। उन्होंने शतपथ ब्राह्मण में देवों के स्वरूप का जैसा प्रतिपादन किया है वैसा अन्य किसी शास्त्र में दृष्टिगोचर नहीं होता। हमने कहा ऋषि प्रोक्त शास्त्र को समझ सकना हमारे वश की बात नहीं। भद्र व्यक्ति ने विनयपूर्वक कहा गुरुकुल कांगड़ी के प्रख्यात स्नातक महाप्रज्ञ पण्डित बुद्धदेव ने महर्षि याज्ञवल्क्य द्वारा प्रोक्त ब्राह्मण के सार को समझा है। चलो उनकी शरण में चलते हैं। हम जिज्ञासा भाव से चल दिये। गंगा की एक बड़ी नहर के किनारे उनका प्रभात आश्रम है। वेदरूपी सूर्य का प्रभात लाने के लिये ही इस महाविद्वान् ने इस आश्रम की स्थापना की है। हम पहुँचे तो देखा महापण्डित शतपथ ब्राह्मण के भाष्य में संलग्न हैं। हम अनुज्ञा पाकर उनकी सेवा में उपस्थित हुये। हमने विनयपूर्वक अभिवादन करके अपनी जिज्ञासा उनके चरणों में प्रस्तुत करते हुये कहा—हे सुविद्वन्! हमें यह बताईये कि देवशक्तियों में सबसे श्रेष्ठ कौनसी है। देवतत्त्व के साक्षातकर्त्ता महर्षि याज्ञवल्क्य का इस विषय में क्या मन्तव्य है। यह हमें बताने की कृपा करें। कुछ विद्वानों का स्पस्ट मन्तव्य है कि अग्नि देव सबसे प्रथम स्थानीय तथा महत्त्वपूर्ण है। शतपथ ब्राह्मण के अध्येता महाविद्वान् कुछ गम्भीर हो गये। वे सोचकर बोले यह बड़ा गूढ प्रश्न है। यह एक अतिसूक्ष्म

रहस्य हैं। देवशक्तियाँ दृश्य नहीं अपितु अदृश्य हैं। ये शक्तियाँ मनुष्य के मस्तिष्क में रहने वाली ज्ञानरूप शक्तियाँ हैं। महर्षि याज्ञवल्क्य ने अपने ब्राह्मण में इन देवशक्तियों का अति सूक्ष्म तथा विस्तृत चिन्तन प्रस्तुत किया है। जिसको आज समझना आसान नहीं। हमने वर्षों लगातार ऋषि के अभिप्राय को समझने का प्रयास किया है। यथार्थ में सब देवशक्तियाँ ज्ञान के नाना रूप हैं। महर्षि याज्ञवल्क्य ने ब्राह्मण के चौथे काण्ड में स्पष्ट निर्देश दिया है कि **अग्नि वै सर्वा देवताः*** अर्थात् सब देवताओं का निमित्त अग्नि (ज्ञान) ही है। इतना ही नहीं महर्षि याज्ञवल्क्य ने शतपथ ब्राह्मण के दूसरे काण्ड में स्पष्ट रूप से यह रहस्य प्रकट किया है कि इन्द्र, वरुण, मित्र, रुद्र आदि सब देव अग्नि (ज्ञान) के ही भिन्न भिन्न रूप हैं।** पर ज्ञान के इन नाना रूपों में सबसे श्रेष्ठ कौन है? सबसे उत्तम वह कौन सी ज्ञान शक्ति है, जिसके बिना मनुष्य के सामाजिक जीवन की कल्पना नहीं की जा सकती। वह अद्भुत गुण शक्ति क्या है, जिसके बिना मानव समाज सिर रहित धड़ के समान रह जाता है? महर्षि याज्ञवल्क्य ने इस विषय में भी अत्यन्त सूक्ष्मता से विचारणा की है। देखो शतपथ ब्राह्मण के अन्तिम काण्ड का आरम्भ करते हुये ऋषिराज लिखते हैं—

देवों ने यजन आरम्भ किया। देवों का वह यजन और कुछ नहीं अपितु कुरुक्षेत्र था। सचमुच ऋषियों ने कुरुक्षेत्र को ही देवयजन कहा है। सच यह है कि जहाँ मनुष्य कर्मभूमि में उतरता है उसी का नाम कुरुक्षेत्र है। वही सच्ची यज्ञभूमि है। देवयजन का उद्देश्य बताये हुये ऋषि ने आगे लिखा है—

श्रियं गच्छेम। यशः स्याम। अन्नादाः स्यामेति।

अर्थात्—यथार्थ ज्ञान धन का लाभ हम करें। शुभ कर्मों के अनुष्ठान से यश कीर्ति को हम प्राप्त करें। अन्नादि भोग्य पदार्थों को हम प्रचुर मात्रा में प्राप्त करें। इसी उद्देश्य से देवशक्तियाँ मनुष्य को कर्म में प्रवृत्त करती हैं।

ते होचुः। यो नः श्रमेण तपसा श्रद्धया यज्ञेनाहुतिभिर्यज्ञस्योदृचं पूर्वोऽवगच्छात् स नः श्रेष्ठोऽसत्।

फिर वे देव बोले हम में से जो श्रम से, तप से, श्रद्धा से, यज्ञ से, आहुतियों से यज्ञ की उच्चता को पहले प्राप्त कर लेगा वही हम में श्रेष्ठ होगा। आगे ऋषिवर याज्ञवल्क्य लिखते हैं—

* मा. श. ४-६-४-२

** देखिये मा. श. २-३-२-११

तद्विष्णुः प्रथमः प्राप। स देवानां श्रेष्ठोऽभूत। तस्मादाहुः विष्णुर्देवानां श्रेष्ठइति।

उन देवों में विष्णु ने ही सबसे पहले उस उच्चता को प्राप्त किया। वह विष्णु देवों में श्रेष्ठ हुआ। इसलिये वेदवेत्ता ऋषि विष्णु को देवों में सबसे श्रेष्ठ कहते हैं।

हमने विनयपूर्वक पूछा—हे महविद्वन्! महर्षि याज्ञवल्क्य के वचन हमारे लिये प्रमाण हैं। ऋषि वेदार्थ के ज्ञाता थे। उनका मन्तव्य निश्चित रूप से उचित होगा।

परन्तु सर्वश्रेष्ठ विष्णु देव का स्वरूप क्या है? उसकी वह कौन सी विशेषता है जिससे ऋषियों ने उसे सर्वश्रेष्ठ माना है यह हमें बताने की कृपा करें।

पूजार्ह पण्डितजी बोले—देखो इसी प्रसङ्ग में कृपालु ऋषि ने विष्णु के सच्चे स्वरूप का प्रकाशन भी कर दिया है। वे लिखते हैं—

स यः स विष्णुर्यज्ञः सः। स यः स यज्ञः। आदित्य सः।

अर्थात्—देवों में श्रेष्ठ स्थान पाने वाला विष्णु देव यज्ञरूप ही है। जो यज्ञ है वह आदित्य है। भाव यह है कि विष्णु मनुष्य के मस्तिष्क में रहने वाली वह ज्ञानशक्ति है जो मनुष्य को यज्ञ के लिये—सामुदायिक (Belonging to assemblage) सर्वरहित के पवित्र कार्य के अनुष्ठान के लिये प्रेरित करती है। यह देवशक्ति व्यक्ति की आत्मा में स्वार्थत्याग की, परहित साधन की प्रबल प्रेरणा देती है, जिससे मनुष्य उत्सर्ग करता है। स्वद्रव्य का परहित के लिये त्याग करता है। विष्णुभाव का परिणाम है मनुष्य में श्रम, तप, श्रद्धा, यज्ञ तथा स्वद्रव्य का पर के लिये त्याग करने का पवित्र भाव जागृत होना। इन्हीं गुणों के कारण देवों में विष्णु श्रेष्ठता को प्राप्त करता है। इसी से मनुष्य श्री यश तथा यथार्थ भोक्तृभाव का लाभ करता है। देखो—दुर्योधन की विशाल ग्यारह अक्षणोही सेना अपने भीष्म, द्रोण, कर्ण और शल्य नामक वीर सेनापतियों के साथ पराजय को प्राप्त हो गई। अन्त में दुर्योधन भी भीम के साथ गदायुद्ध में मारा गया। संजय ने यह सब दुःखपूर्ण समाचार धृतराष्ट्र को सुनाया कि आपके सब लड़के युद्ध में मारे गये। पाण्डुपुत्रों ने विजय लाभ कर लिया।

धृतराष्ट्र दुःखाकुल होकर बोला—संजय! इस महाविनाशी हार का अनुमान तो मुझे उसी समय हो गया था जब द्युत में सब कुछ हार जाने के बाद

युधिष्ठिर जंगल की ओर चल दिया और उसके निर्दोष चारों भाई बिना कुछ बोले पीछे पीछे चल दिये। संजय ! जिन भाईयों का अपने ज्येष्ठ भाई के प्रति इतना समर्पण हो भला उनके साथ युद्ध में विजय की आशा कौन कर सकता है। मैं सोचता था युधिष्ठिर के इस अधम कर्म पर उनके वीर और बलवान् भाई बिगड़ जायेंगे। पाण्डु पुत्रों में फूट पड़ जायेगी। पर मैंने देखा धनुर्धर अर्जुन और महाबली भीम बिना कुछ बोले नीचा मुँह करके अपने बड़े भाई के पीछे चल दिये। मैंने उसी दिन पाण्डुपुत्रों के साथ युद्ध में दुर्योधन की विजय की आशा छोड़ दी थी। पण्डितजी बोले—भाइयो ! यह समर्पण की प्रबल भावना ही यज्ञभावना है, विष्णु शक्ति है। जिस जाति में जिस राष्ट्र में यह समर्पण की त्याग की प्रबल भावना है वह जाति और राष्ट्र विजय पर विजय लाभ करता है। थोड़े से अंग्रेजों द्वारा विशाल भारत को जीत लेने का यही कारण था।

अंग्रेजों में अपने देश और जाति के समर्पण का प्रबल भाव था तो हमारे में स्वार्थ के विनाशी भाव भरे पड़े थे। यज्ञभावों से शून्य स्वार्थी लोग कभी मिलकर नहीं रह सकते। वे एकता के पवित्र सूत्र में कभी नहीं बन्ध सकते। देखो ! जब जब भारतभूमि ने हार के काले मुख को देखा तो वह तब सैकड़ों नहीं हजारों छोटे-छोटे टुकड़ों में बटी हुई थी। एक दूसरे को नीचा दिखाने के लिए, अपने क्षुद्र स्वार्थ भावों की पूर्ति के लिये वे स्वयं क्रूर शत्रुओं को बुलाने का नीच कर्म करते नहीं सकुचाते थे। बार-बार हारे हुये मोहम्मद गोरी को भारत जीतने के लिए क्या स्वयं जयचन्द ने नहीं बुलाया। जब यूनान अपने विजय के झण्डे दूर-दूर तक गाड रहा था, जूलियस सीजर ने ब्रिटेन जैसे धनशून्य प्रदेश को जीत लिया तब ऐसी क्या बात थी कि ऐश्वर्य सम्पन्न भारत भूमि की ओर यूनानी वीर सेनापति अपनी आँख नहीं उठा सके। वे भारत को जीतने का साहस नहीं कर सके। उसका यही कारण था कि उस समय भारत एकता के सूत्र में बन्धा था। चाणक्य का सन्देश और उपदेश लोगों के मस्तिष्क में विष्णु शक्ति के पवित्र भाव को शताब्दियों तक जागृत करता रहा। यही कारण है कि बहुबल सम्पन्न यूनानी भारत की ओर विजय लाभ के लिये बढ़ने की नहीं सोच सके। इसलिये महर्षि याज्ञवल्क्य कहते हैं सामुदायिक योगक्षेम की प्राप्ति यज्ञभावों से पूर्ण; विष्णु शक्ति से सम्पन्न ही जन करते हैं। सारे ज्ञान की चरितार्थता विष्णुभाव की प्राप्ति में ही है। इसलिए समस्त प्राचीन ऋषियों ने यह सिद्धांत स्थापित किया कि देवों में विष्णु ही सबसे श्रेष्ठ देव है। वेद भी कहता है "ध्रुवा दिग् विष्णुरधि-

पतिः" अर्थात् ध्रुव (स्थिर) ऐश्वर्य की स्थिति का स्वामी विष्णु देव है। जहाँ एक दूसरे के हितसाधन का पवित्र विष्णुभाव (यज्ञभाव) लोगों के दिमाग में वर्तमान है, जहाँ सामुदायिक योगक्षेम की पवित्र भावनाजन्य श्रमशीलता है, वहाँ निश्चित् रूप से ऐश्वर्य की, स्वाधीनता की ध्रुवता (स्थिरता) है। जहाँ मानव मस्तिष्क विष्णु देव की शक्ति का शुभ्र प्रकाश है वहाँ ईर्ष्या द्वेष और स्वार्थभाव की भूमि में उगने वाली फूट की विष वेल कदापि नहीं पनप सकती। यह देखो पञ्जाब के विशाल उपजाऊ भू-भाग पर महाराज रणजीतसिंह ने अपने बुद्धिकौशल एवं त्यागपूर्ण श्रम के बल पर अपना राज्य बढ़ा लिया है। इसके सौजन्य एवं प्रजाहित के पवित्रभाव के कारण पञ्जाब के वीर लोग अपने महाराज के लिए प्राणपण से समर्पित हैं। अत्याचारी यवनों के बल का नाश इन वीरों ने कर डाला है। कोहेनूर हीरे को इन वीरों ने यवनराज से छीन कर अपने महाराज के मुकुट में जड़ दिया है। चारों तरफ सुख शांति का साम्राज्य है। चालाक अंग्रेज भी इनसे भय खाते हैं। उनकी हिम्मत नहीं कि वे इनके ऐश्वर्य की ओर आँख उठा सके। क्यों ? क्योंकि पञ्जाब के समस्त वीर विष्णुशक्तिरूप समर्पण भाव से अपने राज्य की रक्षा करते हैं। पर यह देखो महाराजा रणजीतसिंह प्राण छोड़ चले। अपने देश धर्म एवं जाति के लिए समर्पण की भावना समाप्त हुई। हर सेनापति अपने स्वार्थ की हाँडी चढ़ाने लगा। फलस्वरूप आपस में लड़ पड़े। बना बनाया राज्य कुछ दिनों में नष्ट हो गया। आपस की लड़ाइयों में महाराजा रणजीतसिंह के सब लड़के और योद्धा मारे गए। चालाक अंग्रेजों को खुला मैदान मिल गया। पञ्जाब के वीर लोग गुलामी के दुःखदायी जाल में फस गये। महाराजा रणजीतसिंह के एकमात्र जीवित बचे नन्हें राजकुमार दिलीपसिंह को जबरन अंग्रेजों ने उसकी माता से छीन लिया। उसे ईसाई बनाकर इंग्लैण्ड भेज दिया। स्वार्थ के लिये लड़ने मरने वाले सभी पछता रहे हैं। शोक के आँसू अब बहा रहे हैं। पंजाब का विपुल ऐश्वर्य इंग्लैण्ड भेजा जाने लगा। अमूल्य कोहेनूर हीरा इंग्लैण्ड की महारानी के मुकुट की शोभा बन गया। महाराजा रणजीतसिंह का बेटा राजभ्रष्ट ही नहीं हुआ अपितु अपने महान् गुरुओं के धर्म से भी पतित कर दिया गया। उसकी ईसाई पत्नी से इंग्लैण्ड की रानी ने एक दिन पूछा—क्या तुम्हारा पति दिलीपसिंह उस कोहेनूर हीरे को कभी याद करता है जो कभी उसके पिता के मुकुट की शोभा था। दिलीप की पत्नी ने यह चर्चा अपने पति को सुनाई। महाराजा रणजीतसिंह के पुत्र का मुख शर्म से झुक गया। एक बार फिर उसकी रगों में अपने

वीर पिता का तेजस्वी रक्त तीव्रता से घूम गया। शोकाकुल दिलीप ने कहा—मैं केवल पाँच वर्ष का था जब अंग्रेजों ने इस महिमामण्डित ऐतिहासिक हीरे को मेरे से बलात् भेंट में ले लिया। यदि मैं कुछ भी समझता होता तो अंग्रेज मेरे जीते जी इसे नहीं पा सकते थे।

तीव्रबुद्धि पण्डितजी ने आवेश के साथ कहा—यह है विष्णुविरोधी स्वार्थपूर्ण राक्षसी भावों का दुष्परिणाम। इसलिए महर्षि याज्ञवल्क्य कहते हैं—ओ संसार के लोगो ! यदि दुनिया में सुख से, अदीनभाव से और स्वातन्त्र्य के साथ जीना चाहते हो तो सामुदायिक योगक्षेम के पवित्र भाव को उत्पन्न करने वाले विष्णुदेव की उपासना करो। संसार के श्रेष्ठ और बुद्धिमान् लोग सदा विष्णुदेव की आराधना करके विजयी हुए हैं। महर्षि ने शतपथ ब्राह्मण के प्रथम काण्ड में अति सुन्दर शब्दों में लिखा है :—

ते यज्ञमेव विष्णु पुरस्कृत्येयुः*

अर्थात्—नानाविध ज्ञानशक्तियों से सम्पन्न देवजन सदा यज्ञरूप विष्णु के पवित्र ज्ञान को ही आत्मसात् करके आगे बढ़ते हैं। जहाँ परहित साधक कर्मरूप यज्ञभाव प्रमुख है वहाँ सबका कल्याण है। वहाँ चिरस्थायी विजय का सुख है। यह ध्रुव सत्य है, ऋषियों का अनुभूत तथ्य है कि **अग्नि वै यज्ञस्य पूर्वार्ध्यः। विष्णुः परार्ध्यः।**** ज्ञान यदि यज्ञ का सबसे पहला भाग है तो विष्णु यज्ञ का अन्तिम लक्ष्य है। यदि ज्ञानवान् का ज्ञान परहित के (विष्णुभाव) में सहयोगी नहीं हुआ तो वह किस काम का। इसलिए सब देवों की चरितार्थता विष्णु देव के लिये है। जहाँ मनुष्य की सब ज्ञानशक्तियाँ परहित के लिये उन्मुख हैं वहीं सच्ची ज्ञानरूपी श्री, यश एवं अन्नादि भोग्य पदार्थ की सुखल प्राप्ति है। वहीं स्वर्ग है। शतपथ के प्रबुद्ध विद्वान् इतना कहकर शांत हो गये। हमने कहा—हे मेधावी विद्वान् ! आपकी विद्या अद्भुत है। आपकी प्रज्ञा सूक्ष्म है। आपकी रहस्यवेतृता विलक्षण है। आज हम वेदों में कथित देवों के सच्चे स्वरूप को समझ गये। विष्णुदेव के मर्म को हम आज जान गये। सफलता का सूत्र समझ में आ गया। हम धन्य हो गये। आपको हमारे शतशः प्रणाम हों।

---

* मा. श. १-२-५-३
** मा. श. ३-१-३-१

अष्टम पथ

जो अमर हुआ वह विद्या और कर्म से हुआ

विनयशील शिष्यों ने गुरु का अभिवादन किया और अपने अपने आसनों पर बैठ गये। विद्याश्री से भूषित गुरु याज्ञवल्क्य ने अपने ब्राह्मणग्रन्थ के रहस्य खोलने शुरू किये। महर्षि बोले अमरता की कामना कौन नहीं करता। हर कोई चाहता है मैं अमर हो जाऊं। वेदों में देवों के अमर होने का उल्लेख बहुवार आता है। हमने भी अपने ब्राह्मण के दूसरे काण्ड में देवों के अमर होने का निर्देश दिया है। देखो प्रजापति भगवान् की दो प्रकार की प्रजाएँ हैं। एक देव हैं तो दूसरी असुर। इन दोनों की परस्पर सदा स्पर्द्धा बनी रहती है। श्रेष्ठ कर्मों के अनुष्ठान की प्रेरणा देने वाले देवों को इन्द्रियों के भोगभाव रूप असुर सदा दवाने की स्पर्द्धा सी करते रहते हैं। इन्द्रियभोग प्रत्यक्ष सुख देने वाले होने के कारण अतीव आकर्षक हैं। उनकी तरफ मनुष्य की प्रवृत्ति सहज है। अतः ज्योंहि ज्ञानशक्तियाँ कमजोर पड़ी त्योंहि असुरभाव प्रवल हो जाते हैं। मनुष्य परपीड़ा के नीच कर्म में प्रवृत्त हो जाता हैं। इसी भाव से हमने अपने ब्राह्मण में लिखा है—

ततो देवाः तनीयांस इव परिशिशिरे।*

अर्थात्—असुरभाव के प्रवल हो जाने पर देव क्षीण से, दुर्बल से हो जाते हैं। महर्षि का यह वक्तव्य सुनकर शिष्यों में प्रबुद्ध माध्यन्दिन ने पूछा—हे आचार्यदेव! देव तो अमर हैं, अक्षीण हैं फिर उनमें क्षीणता और निर्बलता कैसे घटित हो सकती है?

आचार्यवर महर्षि याज्ञवल्क्य बोले—सुनो! देवों में केवल एक ही देवशक्ति अमृतरूप है अक्षीण है। वह देव है अग्नि। उसी का नाम प्राण भी है। यही अग्नि (ज्ञान तत्त्व) सब देवों में जीवन का दाता है। जिस प्रकार भौतिक वायु भौतिक जीवन का आधार है। इसी प्राण वायु के बल से आंख

---

* मा. श. २-२-२-९

देखती, है कान सुनता है, नाक सूंघता है । हाथ पैर कार्य करते हैं । इसी प्रकार अलौकिक उत्प्रेरक ज्ञान तत्त्व भी सब प्रकार की दिव्यभावनाओं का आधार है। इसी अग्नि देव के आधान से ही सब देव अमरता को अक्षीणता को अधिगत करते हैं। जरा सोचो ज्ञानहीन व्यक्ति क्या ऐश्वर्य की कामना कर सकता है। ज्ञानशून्य पशुसमान व्यक्ति कभी ऐश्वर्य का अधिष्ठाता नहीं हो सकता। यही कारण है अज्ञानी असभ्य जंगली जातियाँ सदा दारिद्रय का जीवन भोगती हैं। उनको थोड़े से ज्ञानी लोग अधीन कर लेते हैं। ज्ञान से शून्य महावीर भी अपनी वीरता का कुछ भी फललाभ नहीं करता। उसकी बलिष्ठता सदा बुद्धिमान् और ज्ञानवान् लोगों के ही प्रयोजन सिद्ध करती है। इसलिये वेदों के भाव के अनुसार हमने अपने ब्राह्मण में स्पष्ट ही लिख दिया है—

देवाश्च वा असुराश्च । उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे । त उभये एवानात्मान आसु मर्त्या ह्यासुरनात्मा हि मर्त्यस्तेष्वुभयेष्वग्निरेवामृत आस ।*

अर्थात्—देव तथा असुर ये दोनों प्रजापति की सन्तान हैं। इन दोनों की आपस में स्पर्द्धा है। ये दोनों ही आत्मा से रहित तथा मरणधर्मा हैं। जो आत्मा से रहित है वही क्षीणता को प्राप्त करता है। इन देवों तथा असुरों में केवल अग्नि ही अमृत हैं। वही सब का जीवन आधार है। देव इसी अग्नि को धारण करके अमरता को प्राप्त करते हैं। फिर बड़ी से बड़ी आपत्ति आने पर भी देव क्षीण नहीं होते। जिन मनुष्यों के हृदयकुण्ड में यह अग्निदेव (ज्ञान तत्त्व) प्रचण्ड रूप से उद्बुद्ध है जागृत है, उनको कोई भी भोगेच्छा रूप असुर वशीभूत नहीं कर सकता। उनका मानस दिव्यशक्तियों से ओत-प्रोत रहता है। उनके दिव्यगुण अमृत हो जाते हैं, अक्षीण हो जाते हैं। शिष्य माध्यन्दिन ने पुनः प्रश्न किया। हे महर्षे! आपने कहा असुरों को जीवन देने वाला तत्त्व भी अग्नि है। यदि असुरों के पास भी अग्नि देव है तो फिर वे असुर कैसे रह गये। वे भी देवों के समान अमर एवं अक्षीण हो जायेंगे।

महर्षि याज्ञवल्क्य बोले—तुमने ठीक पूछा। सचमुच यह एक अतिसूक्ष्म विचारणीय वार्ता (बात) है। देखो जहाँ चेष्टा है वहाँ अग्नि तत्त्व है। जड़ संसार में भी गति का कारण यह भौतिक अग्नि है। अलौकिक मानसिक शक्तियाँ भी अग्नि (ज्ञान) से चेष्टाशील बनती हैं। यथार्थज्ञान से देवशक्तियाँ

* मा. श. २-२-२-८

जीवन प्राप्त करती हैं तो मिथ्याज्ञान रूप अग्नि से असुरभाव जीवन प्राप्त करते हैं। ये दोनों प्रकार के तत्त्व ही समस्त चेष्टाओं का मूल हैं। इस रहस्य का प्रकाशन करते हुये हमने लिखा है—

उभयेषु वै नोऽयमग्निः। प्र त्वेवासुरेभ्यो ब्रवामेति। ते होचुः। आ वै वयमग्नी धास्यामहेऽथ यूयं = किं करिष्यथेति। ते होचुः। अथैनं वयं त्वेव धास्यामहेऽत्र तृणानि दहात्र दारूणि दहात्रौदनं पचात्र मांसं पचेति।*

अर्थात्—देवों ने विचार किया, यह अग्नि तत्त्व तो हम देव तथा असुर दोनों के पास है। चलो असुरों से पूछते हैं, वे इस अग्नि का क्या करेंगे। असुरों से जब देवों ने यह पूछा तो वे बोले हम भी निश्चित रूप से इस अग्नि का आधान करेंगे। देवों ने पुनः पूछा—हे असुरो! तुम इस अग्नि का आधान किसलिये करोगे? असुर बोले—हम अग्नि से कहेंगे तू हमारे लिये जलकर हमें शीत से बचाना। तू हमारे लिये भात पकाना, तू हमारे लिये मांस पकाना। भाव यह है कि असुर भाव मिथ्या ज्ञान से प्रोद्भूत होने के कारण ज्ञान का प्रयोग भी निज स्वार्थों की सिद्धि के लिये करते हैं। असुर भी मिथ्या ज्ञान की प्रेरणा से नाना प्रकार के उद्योग करते हैं। वे अपने ज्ञानबल से नाना प्रकार के अस्त्र-शस्त्र बनाते हैं। इसलिये नहीं कि इनसे वे दुर्बलों का निःसहाय्यों का त्राण (बचाव) करेंगे। अपितु इसलिये कि वे इन भयङ्कर अस्त्र-शस्त्रों से दुर्बलों को मारकर उनका सर्वस्व लूटेंगे। ये शस्त्र बना रहे हैं बेचारे निर्बल प्राणियों को मारने के लिये, उनके मांस को खाने के लिये। यह ठीक है ये असुर इस प्रकार इन्द्रिय सुखों को प्राप्त करते हैं। पर याद रखो असुरों का यह सुखभोग अमर नहीं अक्षीण नहीं। यह सुख शीघ्र दुःखपरिणामी है। यह शीघ्र विनाशी है। प्रिय शिष्यो! क्या तुम जानते हो श्रेष्ठ रघुकुल में कितने सहस्रों वर्ष तक राज्यश्री अटल रही। पर जब इस कुल में देवभावों को असुर भावों ने दबा लिया तो चिरकाल से स्थायी सिंहासन डोल गया। स्थिरपदा राजलक्ष्मी चलायमान हो गई। रघुवंश में उत्पन्न राजा अग्निवर्ण भोगों में लिप्त हो गया। ज्ञानियों का संग त्याग देने से देवभाव दुर्बल हो गये तो असुरभाव को अतुलित ऐश्वर्य का खाद्य मिल गया। असुरभाव वर्षाकाल के काले बादलों के समान उमड़ पड़े। प्रचण्ड भोगभाव रूप असुरों की आन्धी ने दुर्बल वृक्षों के समान क्षीणदेवों को उखाड़ डाला। आज एक सुन्दरी का उपभोग किया तो कल दूसरी का।

* मा. श. २-२-२-११-१२-१३

अस्त्र-शस्त्र और सेना बल से निर्बलों का धन छीना और अपने सुखभोग में लगा दिया। सुरा का पान और परकन्याओं का उपभोग प्रत्यक्षतः अतिसुख देने वाला था, रोचिष्णु था, मन को भाने वाला था। परन्तु दुःखपरिणामी था। राष्ट्र और कुल का घाती था। रावणजेता राम के प्रतापी कुल का अन्त हो गया। राजा अग्निवर्ण का सुख दुःख में बदल गया। राजयक्ष्मा जैसे भयङ्कर रोग ने यौवन में ही राजा को घेर लिया। बड़े-बड़े राजवैद्यों ने चेतावनी दी राजन्! यदि मृत्यु से बचना चाहते हो तो संयम करना होगा। यह नाच रङ्ग एवं सुरापान का दुःखपरिणामी सुख छोड़ना पड़ेगा। भौतिक सुख को ही सब कुछ समझना महान् अज्ञान है। ऋषियों ने इसे विपर्यय (उलटा ज्ञान) कहा है। राजन्! यह सुख से अधिक दुःख देने वाला है। पर आसुरी अग्नि प्रदीप्त थी भोगेच्छा रूप असुरों ने देवों को दबाया हुआ था। बार बार की चेतावनी भी राजा को भोगसुखों से हटा न सकी। फलस्वरूप यौवनावस्था में ही रघुकुल का दीपक बुझ गया। हजारों वर्षों से चमचमाने वाला इक्ष्वाकु कुल का प्रताप-सूर्य सदा सदा के लिये अस्त हो गया। यही कारण है वेद की ऋचाओं ने असुरों को अमृत नहीं बताया। उन्हें स्थायी सुख का भोक्ता नहीं कहा। देव भावों ने रघुकुल को अमरता दी थी पर असुरभाव एक पीढी भी नहीं टिक सके।

एक पीढी की बात छोड़ो अग्निवर्ण अपनी आयु का आधा भाग भी पार नहीं कर पाया था कि उसके सुख के महल ढह गये। सब सुखकामनाएँ बालु की दीवार के समान शीघ्र ही बिखर गईं। सुरा की मधु धारा कालकूटविष की धारा बन गई। कञ्चन सी काया वाली सुन्दर बालाएँ विषकन्याएँ सिद्ध हुईं। कहाँ तो श्री राम जिसने रघुकुल के प्रताप को मध्याह्न के सूर्य के समान चारों दिशाओं में चमका दिया था, कहां असुरभावों से परिपूर्ण अग्निवर्ण जिसने अपना ही केवल विनाश नहीं किया अपितु प्रतापी रघुवंश का भी अन्त कर दिया। ऋषियों ने सच कहा है असुर अमृत नहीं अपितु मर्त्य हैं, शीघ्र विनाशी हैं। देवों में अमरता का प्रापक देव अग्नि (ज्ञान) है। इसी ज्ञान से मनुष्य शुभकर्मों का अनुष्ठान करता है। यही जीवन की सार्थकता है, सजीवता है। इसलिये देखो मैंने अपने ब्राह्मण में स्पष्ट ही लिख दिया है—

ते इमममृतमन्तरात्मन्नाधायामृता भूत्वाऽस्तर्य्या भूत्वा स्तर्य्यान् सपत्नान्-मर्त्यान् अभ्यभवन।*

* मा. श. २-२-२-१४

अर्थात्—देवों ने इस अमृत अग्नि (ज्ञान) को अपनी अन्तरात्मा में धारण करके अमरता को सच्चे जीवन को प्राप्त किया। वे इस ज्ञानतत्त्व को पाकर असुरों से अहिंस्य हो गये। इतना ही नहीं देवों ने अग्नि को अन्तरात्मा में धारण करके अपने मरणधर्मा विनाशी शत्रु असुरों को भी दवा दिया।

विनयशील कात्यायनीपुत्र ने पूछा—गुरुदेव ! यह पार्थिव शरीर तो कदापि अमर नहीं हो सकता। यह तो विनाशी है, विकारी है, फिर देवों ने अमरता को कैसे प्राप्त किया ? वेदशास्त्रों में देवों को अमर्त्य कहा है उसका तात्पर्य क्या है ?

ऋषि बोले—शास्त्रों के पढ़ने से सहसा यह भ्रम हो जाता है कि अग्नि का आधान करने वाले देवजन शरीर से अमर्त्य या अमर हो जाते हैं। परन्तु शास्त्र का अभिप्राय ऐसा नहीं है। देखो देव लौकिक नहीं अलौकिक हैं, अभौतिक हैं। देव तो सूक्ष्म ज्ञानरूप हैं जो मनुष्य की आत्मा में परमज्ञानी परमेश्वर के सानिध्य से या विज्ञानी ऋषियों, सन्तों के सानिध्य से प्रादुर्भूत होते हैं। परमात्मा ने सृष्टि के आदि में जब धरती पर कोई भी ज्ञानी माता, पिता, गुरु और सन्त नहीं था तब अपनी अनुकम्पा से अग्नि वायु आदित्य और अङ्गिरा ऋषि की अन्तरात्मा में पवित्र ज्ञान का प्रकाश किया जिससे सभी दिव्य गुणों का विकास अन्तरात्मा में होता है। सब देवों का कारण-भूत परमदेव परमेश्वर है जो ज्ञानस्वरूप है अमृत है अग्नि है। उसी पवित्र ज्ञान का आधान यज्ञकर्त्ता जन अपनी आत्मा में करते आये हैं। यही ज्ञान तत्त्व (अग्नि) सच्चे कल्याण के सुपथ पर आगे बढ़ाता है। आगे बढ़ाने वाला होने के कारण ही तो ज्ञान को वेदों में (अग्रि को) अग्नि कहा गया है। यह भी ठीक है कि यह अभौतिक ज्ञान भौतिक करणों (इन्द्रियों) के बिना चेष्टा का हेतु नहीं बन सकता। इस ज्ञान के धारक तथा वाहक भौतिक प्राण शरीर में ज्ञानतत्त्व की प्रेरणा से कार्य करते हैं। प्राणवायु के बल से पार्थिव स्थूल शरीर गतिमान् होता है। इस प्रकार सब शुभ कर्मों का मूल ज्ञान तत्त्व है। देखो भौतिक देह न तो देवभावों से पूर्ण मनुष्यों का ही अमर है और न असुरभाव से युक्त मनुष्यों का। हमने अपने ब्राह्मण में स्पष्ट संकेत कर दिया है—

नामृतत्वास्याशास्ति*

* मा. श. २-२-२-१४

अर्थात्—शरीर से अमर होने की तो आशा भी नहीं की जा सकती। कितने भी रसायन सेवन करो, कितना भी उद्योग करो एक दिन निश्चित रूप से शरीर का नाश होगा।

कात्यायनी के पुत्र ने पुनः पूछा—आचार्यदेव ! जब शरीर विनाशी है, मरणधर्मा है, फिर अमरता का उपदेश किसलिये ? देव भी मृत्यु को प्राप्त करेंगे और असुर भी, फिर देवत्व से क्या लाभ ?

महर्षि बोले—कात्यायनीपुत्र ! देवत्व के विना मनुष्यजीवन की सम्भावना नहीं। दिव्य गुणों के अभाव में मानव के सुखी जीवन की कल्पना नहीं की जा सकती। दिव्य गुण ही यज्ञ के प्रेरक हैं। यज्ञ उन शुभ कर्मों के अनुष्ठान का नाम है जिनमें दुर्बलों का त्राण व पालन होता है। परोपकार धर्म के मूल ये दिव्य गुण ही हैं। सामुदायिक योगक्षेम का पवित्रभाव देव शक्तियाँ ही मनुष्य के मस्तिष्क में उत्पन्न करती हैं। जहाँ देवत्व नहीं वहाँ यज्ञ नहीं। जहाँ यज्ञभाव नहीं वहां के समाज में सुख शान्ति कभी नहीं होगी। देखो एक समय की वार्ता (बात) है कि वरुण नामक ऋषि के पुत्र भृगु को अपनी विद्या का अहंकार हो गया। वह समझने लगा अब मुझे विद्याभ्यास की कोई आवश्यकता नहीं। ऋषि वरुण ने कहा बेटा विद्याभ्यास का अवसान (End) ऋषियों ने नहीं माना। नित्यप्रति ज्ञान से आत्मा का संस्कार करना अत्यावश्यक है पुत्र ! पर वरुण पुत्र भृगु का अभिमान चूर नहीं हुआ तब वरुण ऋषि ने कहा—हे पुत्र ! यहाँ से तुम पूर्व की ओर जाओ और वहाँ तू जो देखे उसे देखकर दक्षिण दिशा की ओर जाना वहाँ जो कुछ दिखाई दे उसे देखकर फिर पश्चिम की ओर जाना वहाँ जो घटित हो रहा हो उसे देखकर उत्तर की ओर जाना वहाँ जो कुछ हो रहा हो उसे देखकर पूर्व और उत्तर की दिशाओं के बीच में जो घटित हो रहा हो उसे देखकर मुझे बताना।

पिता की आज्ञा के अनुसार वारुणि भृगु पूर्व दिशा की ओर गया तो उसने बड़ा ही भयङ्कर दृश्य देखा। उसने देखा मनुष्य-मनुष्य के अङ्गों को काट रहे हैं। आदमी-आदमी को खा रहा है। भृगु इस क्रूरतापूर्ण दृश्य को देखकर भय से काँप गया। उसकी आत्मा छटपटा गई। उसने लोगों से पूछा—हे निर्दयी लोगों तुम यह क्या नीचता का कर्म कर रहे हो। वे नीच कर्मा लोग बोले भद्र ! हम कुछ भी गलत नहीं कर रहे। इन दुष्टों ने कभी हमारा भक्षण किया था आज हम बलशाली हैं अतः हम इनका भक्षण कर रहे हैं। ऋषि पुत्र भृगु ने पूछा इस प्रकार तो कोई भी सुख चैन से धरती पर नहीं

रह सकेगा। आज तुम दुर्बलों को मार रहे हो उनका रक्तपान कर रहे हो कल कोई तुमसे भी बलवान् तुम्हारा भक्षण करेगा। क्या इस महादुःख से बचने का कोई उपाय नहीं। लोग वोले—हे भृगु! हमने सुना है तुम्हारे पिता देवगुण सम्पन्न ऋषि हैं। वे इसका प्रायश्चित जानते हैं ऐसा भी हमने सुना है।

पूर्व दिशा का भयङ्कर दृश्य देखकर वरुण पुत्र भृगु दक्षिण दिशा की ओर गया तो वहाँ भी ऐसा ही भयङ्कर दृश्य देखा। इसी प्रकार पश्चिम और उत्तर दिशा का भी बड़ा बुरा हाल था। लोग एक दूसरे को मार रहे थे। एक दूसरे का बुद्धिवल से या शरीर बल से शोषण करने में लगे थे। वारुणि भृगु ने देखा चारों तरफ हाहाकार मचा है। यह सब देखकर ऋषि पुत्र चकित था। वह फिर पिता की आज्ञा के अनुसार पूर्व तथा उत्तर के मध्य देश की ओर बढ़ा। वहाँ उसने एक अति विचित्र ही दृश्य देखा। वहाँ दो स्त्रियां खड़ी थीं। उनमें से एक का नाम कल्याणी था तथा दूसरी का नाम अति कल्याणी। उन दोनों के बीच में एक काला तथा लाल आंखों वाला पुरुष खड़ा था। उसके हाथ में एक मजबूत दण्ड था। उसे देखकर भृगु डर से कांप गया। वह भय से मूर्छित हो गया। होश आने पर वापिस अपने पिताश्री के चरणों में उपस्थित हुआ। भृगु का अहङ्कार मिट्टी में मिल गया। उसने अपना सिर पिता के चरणों में झुका दिया तथा विनीत भाव से कहने लगा—हे पितृदेव! चारों दिशाओं में घटने वाले क्रूर कर्म को मैं कुछ नहीं समझ सका ईशान कोण में वर्तमान रहस्य मेरी कुछ भी समझ में नहीं आया। अब महर्षि वरुण ने कहा हे वत्स—मैंने कहा था स्वाध्याय करो। स्वाध्याय से ज्ञानाग्नि का आधान आत्मा में होता है। ज्ञान के प्रकाश से असुरभाव रूप तामस का नाश होता है। देवशक्तियों का उदय ज्ञान से ही होता है। जिन लोगों की आत्मा में ज्ञान का प्रेरक प्रकाश नहीं, वे असुर हैं, राक्षस हैं। वे अज्ञान-मुग्ध लोग क्षणिक सुखों की लालसा से एक दूसरे का शोषण करते हैं। ये असुर जन मनुष्य का खून तक पी जाने में संकोच नहीं करते। स्वाध्यायशून्य लोग आसुरभावों से परिपूर्ण होकर कितने निर्दयी तथा क्रूर हो जाते हैं यह तुमने अपनी आंखों देख लिया।

भृगु ने पूछा—हे पितृदेव! पूर्व तथा उत्तर दिशा के मध्य देश में रहने वाली कल्याणी तथा अतिकल्याणी नाम वाली स्त्रियाँ क्या हैं? महर्षि वरुण बोले—पुत्र! असुरों के सोच की चारों दिशाएँ अति भयङ्कर हैं। पर अन्त में उनको पीड़ित होकर नाना क्लेश भोग कर कल्याण की दिशा की ओर

आना पड़ता है। देवत्व से शून्य सामान्य लोगों के कल्याण की यह पूर्व तथा उत्तर के मध्य की दिशा है। वहाँ कल्याणी तथा अतिकल्याणी नामक स्त्री समान मृदुभाव से प्रेरणा देने वाली श्रद्धा तथा अश्रद्धा की भावनाएँ मनुष्यों के हृदय में उत्पन्न होती हैं। श्रद्धा ही कल्याणी है और अश्रद्धा का नाम ही अतिकल्याणी है। आपस की दुःखपूर्ण मार काट को देखकर नाना क्लेशों से पीड़ित होकर एक दिन लोगों को शुभ कर्मों के प्रति आस्थावान् होना पड़ता है, उन्हें देवों की सुखद मर्यादाओं की शरण में जाना पड़ता है। यज्ञभावों के प्रति श्रद्धावान् होना पड़ता है। तब वे नाना प्रकार के नियम बनाते हैं। शोषणकर्त्ताओं को, पर-धन का हरण करने वालों को दण्डित करने की व्यवस्था करते हैं। इस श्रद्धा भावना से मनुष्यों का कल्याण होता है। इसलिये इसे ऋषियों ने कल्याणी नाम से कहा है। यह कल्याणी श्रद्धा कोमल हृदय नारी के समान मनुष्य का त्राण करती है। अतिकल्याणी अश्रद्धा है। नीच कर्मों के प्रति जिस दिन मनुष्य के हृदय में अश्रद्धा का भाव जागृत हो जायेगा उस दिन समझो उसका अतिकल्याण हुआ। वरुणपुत्र भृगु ने पुनः पूछा—हे पितृदेव ! जो काला लाल आंखों वाला दण्डधारी पुरुष था वह क्या था ?

महर्षि वरुण बोले—पुत्र ! वह काला पुरुष क्रोध है। जो लोग श्रेष्ठ कर्मों के प्रति श्रद्धावान् तथा नीच कर्मों के प्रति अश्रद्धालु नहीं होते उन्हें भयङ्कर दण्ड को भोगना पड़ता है। ऐसे लोग क्रोधपुरुष का दारुण दण्ड पाकर ही सन्मार्ग पर चलते हैं। देवत्व से शून्य ज्ञान प्रकाश से हीन सामान्य जन की यही उक्त स्थिति रहती है। वे नाना क्लेशों को भोगकर दण्डभय से सन्मार्ग पर चलते हैं। ज्योंहि दण्डभय कम हुआ ये पुनः एक दूसरे के पीड़न में संलग्न हो जाते हैं। इसके विपरीत ज्ञान का शुभ्र प्रकाश पाये देव जन सदा शुभ कर्मों का अनुष्ठान करते हैं। वे परधन हड़पने का नीच कर्म नहीं करते। परहित साधन का यज्ञकर्म वे सदा करते हैं। इसलिये हे भृगु ! कभी भी अभिमान से ज्ञान ग्रहण में प्रमाद नहीं करना चाहिये। स्वाध्याय का, ज्ञान ग्रहण करने का व्रत नहीं छोड़ना चाहिये। यही निर्देश सब ऋषि देते आये हैं। इसलिये मैं कहता हूँ पुत्र अभिमान का त्याग करके नित्य स्वाध्याय करो। विद्या का प्रकाश आत्मा में धारण करो। नित्य ज्ञानाग्नि को आत्मा में जागृत रखो। उसे ज्ञान की पवित्र हवियों से नित्य दीप्त करो तभी कल्याण है, सुख है, शान्ति है। महर्षि याज्ञवल्क्य बोले—शिष्यों ! भृगु ने पिता का सत्योपदेश ग्रहण किया और वह एक दिन लोकपूजित महान् ऋषि बना।*

* यह कथा मा. श. ११-६-१ में मिलती है।

इसलिये देवत्व के विना सुखी जीवन की कल्पना नहीं की जा सकती। देवभाव ही मनुष्य की आयु को सार्थक बनाते हैं। देव ही मनुष्य को प्रगति के पथ पर बढ़ा कर सच्चे जीवन को प्रदान करते हैं। यही कारण है हमने लिखा है—

सर्वं हैवायुरेति*

वह सम्पूर्ण आयु को (प्रगति को) प्राप्त करता है। थोड़ा विचार करो आयु का स्वरूप क्या है ? क्या शरीरमात्र से जीवित रहना आयु है ? यदि ऐसा है तो बहुत से जड़प्रकृतिक वृक्ष दीर्घजीवी होने से मनुष्य से श्रेष्ठ होंगे। वस्तुतः आयु नाम शरीर धारण का नहीं अपितु जीवन पाकर कुछ प्रगति करने, कुछ अधिगत करने का है।** सच्ची प्रगति देवत्व के विकास में है। ये देवगण शरीर के साथ विनाशी नहीं अपितु अमृत हैं, अमर हैं। जो देव-शक्तियों का संवर्धन करता है, उनका अपनी आत्मा में विकास करता है, उसका जीवन सार्थक है। उसकी आयु निरर्थक नहीं अपितु अमृत है सार्थक है। इस रहस्य का प्रकाश करते हुये हमने अपने ब्राह्मण के दशम काण्ड में लिखा है—

यह संवत्सर मृत्यु रूप ही है। इसके दिन और रात मनुष्य के जीवन को कम करते जाते हैं। जो व्यक्ति इस संवत्सर को जान लेता है वह मृत्यु को जीतलेता है। पुनः बुढ़ापे से पहले दिन और रात उसके जीवन को क्षीण नहीं करते। वह अपनी पूर्ण आयु को प्राप्त करता है। उसको पूर्ण रूपेण सार्थक कर लेता है। यह संवत्सर ही अन्तक है। यही सब मनुष्यों का अन्त कर देता है। जो इस अन्तक संवत्सर को जानता है, वह अन्त को, विनाश को प्राप्त नहीं करता। देव इस संवत्सर से भयभीत हो गये। यह संवत्सर कहीं हमारे जीवन का अन्त न कर दे। देवों ने अन्त से, मृत्यु से बचने के लिये नाना यज्ञक्रतुओं का अनुष्ठान किया पर फिर भी वे अमरता को प्राप्त नहीं कर सके। उन्होंने अग्नि का चयन किया तब भी अमृतत्व का लाभ नहीं कर सके। देवों ने अमर होने की लालसा से अर्चना के साथ श्रम भी किया पर पुनरपि वे अमर नहीं हो सके। वे थक गये, निराश से हो गये। क्या करें कुछ उनकी समझ में नहीं आ रहा था।

---

* मा. श. १०-४-३-१

** आयु शब्द इण् गतौ (अदादिगण) धातु से सिद्ध होता है। अतः आयु का ठीक अर्थ यही है।

भगवान् प्रजापति ने देवों को अमरता के लिए संघर्ष करते हुए देखा तो बोले हे देवगण तुम इस प्रकार अमृत नहीं हो सकेगे। देवों ने पूछा क्यों ? प्रजापति बोले—तुमने ज्ञान के सततवाही रूप का आधान आत्मा में नहीं किया। तुम कहीं तो बहुत आगे बढ़ गए हो तो कहीं सर्वथा पिछड़ गये हो। देवों ने विनयभाव से पूछा हे देवों के पिता प्रजापते! हमें सब ज्ञान तत्त्व के आधान का उपदेश दो। तब प्रजापति बोले हे देवो ! तुम प्रतिदिन रक्षक ज्ञान तत्त्व का आधान करो। तुम प्रतिदिन शुभ कर्म रूप यजन के प्रेरक यजुओं का चिन्तन करो। हर मुहूर्त में आत्मा के बल को बढ़ाने वाली ऋचाओं के ज्ञान का धारण करो, तब तुम अन्तक संवत्सर को जीत सकोगे। तब तुम्हारे दिन-रात सार्थक होंगे। तब वे तुम्हारी आयु को क्षीण नहीं करेंगे। तब तुम्हारा जीवन व्यर्थ नहीं सार्थक होगा। देवों ने ऐसा ही किया। उन्होंने पवित्र ज्ञान का प्रतिपल स्मरण रखा और देव अमर हो गये।

तब मृत्यु ने कहा हे देवगण इस प्रकार तो सब मनुष्य अमर हो जायेंगे, मेरा भाग कौन होगा। तब देव बोले हे मृत्यु—

नातोऽपरः कश्चन सह शरीरेणामृतोऽसत्*

कोई भी मनुष्य इस संसार में शरीर के साथ अमर नहीं होता । तुम समय पर इस मर्त्य विकारी शरीर को अपना भाग बना लेना। जीवन की अमरता (सार्थकता) की प्राप्ति ज्ञान और कर्म से होती है । तू केवल स्थूल शरीर को अपना ग्रास बना सकता है। ज्ञानरूप देवशक्तियों को नहीं। शुभकर्म के अनुष्ठान से उत्पन्न पुण्य को नहीं। यही कारण है अन्त में हमने स्पष्ट लिख दिया—

योऽमृतोऽसद् विद्यया वा कर्मणा वेति**

जो कोई भी अमर हुआ वह विद्या और कर्म से हुआ। विद्या और कर्म मनुष्य के दिन तथा रातों को सार्थक करते हैं । वे ही मृत्युरूप अन्तक संवत्सर के मारक प्रहार से मनुष्य को बचा देते हैं। उनके दिन मास और वर्ष सार्थक हो जाते हैं। वह विद्या क्या है वह कर्म क्या है जिससे व्यक्ति अपने जीवन क्षणों को सार्थक करता है । वह भी हमने स्पष्ट बता दिया है—

एषा हैव सा विद्या यदग्निः ।
एतदु हैव तत् कर्म यदग्निः ॥***

---

* मा. श. १०-४-३-९
** मा. श. १०-४-३-९
***मा. श. १०-४-३-९

अर्थात्—अग्नि ही वह विद्या है। अग्नि ही उस कर्म का प्रेरक मूल तत्त्व है। जहाँ अग्नि है वहा प्रकाश है वहाँ कर्म है शुभ चेष्टा है। वहाँ जीवन की सार्थकता है। वहाँ अमृत है। आत्मा में आधान करने योग्य अग्नि क्या है ? वह तो तीन वेदों से प्रादुर्भूत एक दिव्यज्योति है। जैसे भौतिक अग्नि प्रकाश का निमित्त है गति का मूल कारण है, वैसे वेदज्ञान की ज्योति देवशक्तियों को जीवनदायी है उन्हें ऊर्जा देने वाली अलौकिक प्रेरणा है। जिससे व्यक्ति सत्कर्म में प्रवृत्त होता है। यह ज्ञान ज्योतिरूप अग्नि बुझी नहीं मन्द पड़ी नहीं कि मनुष्य असुरभावों का शिकार बन जाता है। उसका जीवन मृत्यु का संवत्सर का ग्रास बन जाता है उसके क्षण, मुहूर्त, दिन-रात, मास और संवत्सर निरर्थक हो जाते हैं, अफल हो जाते हैं। धन वैभव, भव्य भवन ही नहीं अपितु शरीर तक भी मृत्यु का अटल ग्रास है। क्षण बीतेगा, मुहूर्त निकलेगा और एक दिन वह क्षण आ जायेगा जव महाबली मृत्यु देव इन सबको अपना ग्रास बना लेगा। झूठ के बल से जैसे तैसे इकट्ठा किया धन छूट जायेगा। भव्य भवन के सुख पूर्ण संग से मृत्यु बलात् पृथक् कर देगा अमृत सी मीठी वाणी से तृप्ति देने वाली प्राण प्यारी पत्नी से वियोग होगा। स्पर्श सुख देने वाला प्यारा पुत्र सदा के लिये साथ छोड़ देगा। पर सुनो और सदा याद रखो विद्या और कर्म को मृत्यु नहीं मार सकता। उन्हें वह कदापि छीन नहीं सकता। क्योंकि अग्नि-अमृत है। वह मृत्यु से परे है। ज्ञानज्योति की पवित्र प्रेरणा से उसके पवित्र प्रकाश में किये शुभ कर्म नष्ट नहीं होंगे। किसी विद्याधन से सम्पन्न माता-पिता की प्यार भरी गोद में पुनः प्रादुर्भाव होगा। विद्या का उज्ज्वल प्रकाश शीघ्र अपनी दीप्ति के साथ प्रकट होगा। विद्वत्सभाएँ उसका मान करेंगी। धनी श्रेष्ठी ही नहीं राजा महाराज तक उसकी चरणधूल को अपने मस्तक पर लगायेंगे। इसलिये हमने कहा—

योऽमृतोऽसद् विद्यया वा कर्मणा वा।

महर्षि ने इतना कहकर अपने प्रवचन को विराम दिया। ऋषि के ब्राह्मण प्रवचन को सुनकर शिष्य मण्डली गद-गद थी। उनकी आत्मा तृप्त हो गई। वे सहसा बोल पड़े महर्षे वेद का साररस हमें मिल गया। विद्या और कर्म से जीवन की सार्थकता है यह मर्म हमारी समझ में आ गया। देवों के अमर होने का रहस्य आज खुल गया। हम अनुगृहीत हैं।

———

नवम पथ

आत्मा का पोषक अन्न क्या ?

अन्न की महिमा कौन नहीं जानता। छोटा-सा कीड़ा भी पैदा होते ही भोजन के लिये चेष्टावान् हो जाता है। यदि हमें एक दिन अन्न न मिले तो हम छटपटा जाते हैं। हमारा शरीर शिथिल पड़ जाता है। भूखे आदमी की बुद्धि भी विवेक खो देती है। नीति-निपुण लोग यहाँ तक कह गये कि भूखा आदमी कुछ भी पाप कर सकता है। शरीर के लिये अन्न की महती आवश्यकता है। यजुर्वेद का प्रारम्भ अन्न की याचना से ही हुआ है। सच भी है, अन्न के बिना प्राणी का जीवित रह सकना सम्भव नहीं। यह तो हुई स्थूल शरीर के पोषणकर्त्ता अन्न की बात। पर शरीर से भी महत्त्वपूर्ण तो शरीरी है। जिसके लिये शरीर का निर्माण हुआ है। जिसके अभाव में हृष्ट-पुष्ट बलिष्ठ देह भी तुरन्त निष्चेष्ट हो जाता है। वह शरीरी आत्म तत्त्व है। यह आत्मा ही इस शरीर का स्वामी है। ऋषियों ने शरीर को रथ कहा है तो आत्मा को रथी। रथी के बिना रथ का क्या प्रयोजन ? कितना भी सुन्दर तथा सुदृढ़ रथ हो पर वह आखिर है तो रथी के लिये ही। यदि वह रथी के प्रयोजन को सिद्ध नहीं करता तो बुद्धिमान् लोग यही कहेंगे इस रथ की कोई सार्थकता नहीं। यह तो व्यर्थ ही स्थान घेर कर खड़ा है। इसकी साफ सफाई का क्या लाभ ? इसको कहीं बाहर फेंको। यह शरीर भी आत्मा का रथ है। यदि यह पुष्ट शरीर इसकी दूरदर्शी चमकती आंखें आदि अङ्ग प्रत्यङ्ग यदि आत्मा के प्रयोजन को सिद्ध नहीं करते तो इस शरीर के पोषण का क्या लाभ ? इधर देखो यह एक विशालकाय प्राणी जा रहा है। इसका नाम हाथी है। इसके शरीर के बल का अनुमान लगाना कठिन है। यह बड़े-बड़े वृक्षों को अपनी टक्कर से गिरा डालता है। इसके सूंड में अद्भुत ताकत है। शेर भी यदि इसकी लपेट में आ गया तो फिर उसे प्राणों से हाथ धोने पड़ते हैं। इसलिये जंगल का राजा शेर भी इसके सामने आने से कतराता है। सैकड़ों मनुष्यों के शरीर बल से इसका शरीर बल अधिक है। पर देखो एक दुर्बल सा आदमी इसकी पीठ पर सवार है। वह अपने ज्ञान बल से इस महाबली प्राणी से नाना कार्य कराता है। सुबह

से शाम तक काम कर रहा है। भूखा है प्यासा है पर दुर्बल मनुष्य से डरकर कार्य कर रहा है। यह क्यों ? क्योंकि इसने केवल शरीर का ही अन्न खाया। इस बेचारे को आत्मा का अन्न नहीं मिला। इसी कारण से इसकी आत्मा दुर्बल है मृत सी है। यही कारण है वलिष्ठ देह का स्वामी होने पर भी, पर्याप्त भोजन करने वाला होने पर भी, एक पतले से आदमी के अधीन है। सारा जीवन उसी की गुलामी में काट देगा। जंगल का स्वतन्त्र विहार छूट गया। सङ्गी-साथियों का साथ सदा के लिये समाप्त हो गया। दुःख के विषघूंट पी रहा है। शोक के आंसू बहा रहा है। पर छुटकारे की विचारणा नहीं। स्वातन्त्र्य लाभ का कोई उपाय नहीं सोच सकता। क्यों ? क्योंकि आत्मा का भोजन इसे नहीं मिला। गुरु परम्परा से इसे आत्मा का पोषक तत्त्व नहीं मिला। यह तो एक जानवर की बात है। वह तो ईश्वर की व्यवस्था में आत्मा का अन्न ग्रहण करने में असमर्थ है। इधर मनुष्यों का हाल भी देखो जिन लोगों में, जिस जाति में, जिस राष्ट्र में आत्मा के भोजन की कोई व्यवस्था नहीं, कोई प्रणाली नहीं जहाँ केवल पशुवत् शरीर पोषण का ही उद्योग है, वे शरीर से बलिष्ठ होने पर भी दारुण दुःख भोग रहे हैं। संख्या में अधिक होने पर भी गुलाम हैं। हजारों लाखों लोगों को थोड़े से लोग मनमाने ढंग से हांक रहे हैं। उनके कमाये धन धान्य का उपभोग कर रहे हैं। शरीर से वलवान् तथा संख्या में अधिक ये लोग कुछ भी कर सकने में अशक्त हैं। ये वर्षों से जी जान से श्रम कर रहे हैं पर इनके पास न रहने को मकान है न पहनने को कपड़े। दूसरी तरफ गगनचुम्बी अट्टालिकाएँ वनती जा रही हैं। ऐश्वर्य के पहाड़ लगते जा रहे हैं। यह क्यों ? क्योंकि श्रमशीलों की आत्मा दुर्बल है। उनको आत्म का पोषक अन्न नहीं मिला।

यह देखो विशाल देश रूस है। इस विशाल देश का समस्त ऐश्वर्य मात्र एक व्यक्ति के लिये समर्पित है। वह तथा उसके प्रिय जन नाना प्रकार के ऐश्वर्य सुख का उपभोग कर रहे हैं। जबकि देश के अन्य लाखों लोग भूखे नंगे सर्दी में ठिठुर ठिठुर कर जीवनयापन कर रहे हैं। न रहने को मकान है न खाने को पर्याप्त भोजन। कोई भी सोच नहीं पाता कि इस भयङ्कर दरिद्रता से दारुण दुःख से कभी छुटकारा होगा। पीढ़ियाँ बीत गईं पर क्लेशमुक्ति का कोई उपाय नहीं सूझा। यदि कोई सुन्दरी है तो उसका भोग राजा करेगा। सुन्दर महलों में कोई रहेगा तो केवल बादशाह और उसके प्रिय जन। अच्छे कपड़े कोई पहनेगा तो राजा और उसके परिजन।

परन्तु एक समय आया जब कुछ युवकों को आत्मा का अन्न मिला। उनकी आत्मा में जीवन आया। ज्ञान का प्रकाश हुआ। उन्हें झटिति आभास हो गया। उन्हें सूझ आ गई कि हमारे अपने बल पर ही ये कुछ लोग मौज उड़ा रहे हैं। यदि हम निजस्वार्थों को थोड़ा छोड़कर संगठित हो जायें तो यह अकेला राजा क्या कर सकता है। इन युवकों ने प्रचार किया। कुछ ही वर्षों में विशाल देश रूस की जनता की आत्मा जागृत हो गई। हजारों लाखों लोग अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध खड़े हो गए। जार की जारशाही समाप्त हुई। उसके प्रिय जन अत्याचारी मन्त्री एवं लुटेरों का नामोंनिशान मिट गया। कुछ ही वर्षों में निर्धन रूस समृद्ध हो गया। गुलामी समाप्त हो गई। यह है आत्मा के अन्न का प्रताप और चमत्कार।

इधर गंगा और यमुना के उपजाऊ मैदान वाले भारत की दुर्दशा देखते नहीं बनती। ३० करोड़ भारतवासियों का वैभव मुट्ठीभर लोग दूर देश से आकर भोग रहे हैं। लोग सोचते हैं यह क्या हो रहा है। कुछ लोग करोड़ों लोगों को जानवरों की भाँति हाँक रहे हैं। बड़े बड़े वीरमानी उनके चरण चुम्बन करने में अपना भला मान रहे हैं। श्रम करने वाले भूख से तड़प रहे हैं। भूख के मारे जवानी में बुढ़ापा आ रहा है। गंगा और यमुना का सततवाही जल होने पर भी भारतवासी प्यासे हैं। शताब्दियाँ बीत गईं, कभी किसी के गुलाम हैं तो कभी किसी के। इनका लम्बा इतिहास गुलामी की दुःखपूर्ण कहानियों का इतिहास बन गया। इतिहास के किसी पृष्ठ पर लिखा है—बादशाह फिरोजशाह ने नगरकोट कांगड़ा को जीत लिया। इसने १३ हजार हिन्दुओं के गले में गोमांस के लोथड़े बन्धवा दिये हैं। मातृसम पूज्य गोमाता के मांस को खिलाने का हुकम बादशाह ने दिया है। जिससे गोमांस न खाया गया, जिसने अपने पूर्वजों के पवित्र धर्म का त्याग नहीं किया, उनको मौत के घाट उतार दिया। रक्त की नदियाँ काँगड़ा में बह रही है। भेड़ बकरियों के समान हजारों मनुष्यों को काटा जा रहा है। उनकी जवान बेटियों का जबरदस्ती भोग किया जा रहा है। चारों तरफ हा-हाकार मचा है। धन वैभव इज्जत सब कुछ लूटा जा रहा है। इधर अलाउद्दीन खिलजी को पता चला गुजरात के राजा रायकर्णसिंह की पत्नी अतिसुन्दर है तो फौज को लेकर चढ़ गया। भारत के लाखों लोग दुःखी हैं। दर्दभरे दिल से टुकर-टुकर देख रहे हैं। पर कुछ भी करने में समर्थ नहीं। गुजरात के वीर मानी अपने मान की रक्षा के लिए युद्ध मैदान में खड़े हैं। पर थोड़े से गुजराती भला

खिलजी का मुकाबला क्या करते । हजारों सैनिकों के साथ गुजरात का राजा मारा गया । महलों में घुसकर रायकर्णसिंह की सुन्दर पत्नी को जबरन खिलजी ने अपनी बीवी बना लिया । इतना ही नहीं अपितु कर्ण की प्यारी बेटी देवल को भी नहीं छोड़ा और उसे खिलजी ने अपने बेटे को सौंप दिया । गुजरात का प्रत्येक वासी रो रहा है । उनका सब कुछ लूट लिया । कुत्ते और बिल्ली भी शायद इनसे सुखी होंगे । इस प्रकार सैकड़ों नहीं असंख्य घटनाएँ भारत के काले इतिहास का अंग बन गईं । पर त्राण का कोई उपाय नहीं । यवन कमजोर पड़े तो दूसरे देश से आकर अंग्रेज लूटने लगे । यहाँ का सोना चाँदी सब कुछ जहाजों पर लद कर इंग्लैण्ड जाने लगा । करोड़ों भारतीयों का शोषण कुछ लोग करने में लगे हैं । भारत के वासी सोच नहीं पा रहे कि वे क्या करें । क्यों ? क्योंकि उनकी आत्मा दुर्बल है, स्वार्थ की भूख से पीड़ित है । आत्मा को बल देने वाला अन्न शताब्दियों से उन्हें नहीं मिला । पर एक व्यक्ति की आत्मा को एक अन्धे पर सूक्ष्मदर्शी से अन्न मिल गया । उसने भारत के दुःखपूर्ण पतन का रहस्य समझ लिया । बस फिर क्या था उसने भारत के घर-घर तक उस आत्मा के पोषक अन्न को पहुँचाने के लिए कमर कस ली । भारत के लोगों की भूखी पीड़ित आत्मा को अन्न मिलने लगा । सूखते पौधे को जैसे पानी मिल गया । परिणाम तुरन्त सामने आने लगा हजारों भागों में विभक्त भारत एक होने लगा । बंगाल में जन्मा सुभाष बंगाल को नहीं भारत को अपना देश घोषित करने लगा । गुजरात में जन्मा गांधी गुजरात को नहीं समस्त भारत भूमि को अपनी मातृभूमि मानने लगा । पंजाब में जन्मा पञ्जाब केसरी लाला लाजपतराय बंगाल तक अपना देश समझने लगा । लोगों को बोध हो गया । उन्हें ज्ञानी पुरुषों के संग से आत्मा का अन्न मिल गया । जैसे बुझते दीपक में तेल पड़ते ही प्रकाश बढ़ जाता है । उसी प्रकार भारत के पीड़ित जनों की आँख खुल गई । वे समझ गये हमारी गुलामी और दरिद्रता का कारण हमारी स्वार्थपरता और मूर्खता है । भला हम सब भारतवासी एक होते तो क्या थोड़े से लोग हमें गुलाम बना सकते थे । हमारी आपस की फूट ही देश की पराधीनता का कारण है । आज सारा भारत एक है । कश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक के लोग अपने को भारतीय मान रहे हैं । आसाम से लेकर बिलोचीस्तान तक के लोग भारत को अपना देश मानने लगे हैं । दुनियाँ के लोगों ने देखा बलशाली साम्राज्य के अधिपति अंग्रेज बिना लड़ाई के अपने बोरी बिस्तर उठाकर स्वदेश को चल दिये । क्यों ? क्योंकि अंग्रेज समझ गये । अब भारतवासियों की आत्मा जागृत हो गई, उनकी भूखी

मृत आत्मा को जीवन देने वाला अन्न मिल गया। अब इनको गुलाम बनाये रख सकना कदापि सम्भव नहीं।

आत्मा का अन्न क्या है यह बताने की आवश्यकता नहीं। दूध घी आत्मा का अन्न नहीं हो सकता। गेहूं और चावल आत्मा नहीं खा सकता। यह तो शरीर का अन्न है। आत्मा का अन्न तो ज्ञान है। ज्ञान से ही आत्मा को पुष्टि मिलती है। ज्ञान से ही आत्मा का बल बढ़ता है। आत्मबल के बिना शरीरबल तुच्छ है। वेद ने मुख्य रूप से आत्मा के अन्न का ही उपदेश दिया है। यजुर्वेद का प्रारम्भ मुख्य रूप से इसी आत्मान्न के लाभ की कामना से हुआ है। केवल शारीरिक अन्न का भोग करने वाले लोग सदा दूसरों के भोग्य बन जाते हैं। वे सदा गुलामी का महाक्लेश भोगते हैं।

यद्यपि आज संसार के लोग आत्मा के अन्न (ज्ञान) के महत्त्व को समझ गये हैं। धरती पर ऐसा देश नहीं जहाँ ज्ञानान्न के लाभ की व्यवस्था न हो। समृद्ध राष्ट्रों में इसके लिए बड़े-बड़े विश्वविद्यालय स्थापित हैं। देश के उत्पाद (Production) का बहुत बड़ा भाग ज्ञान लाभ के निमित्त व्यय किया जाता है। ज्ञान विज्ञान के नाना ग्रन्थों का निर्माण बुद्धिमान् लोग करते हैं। ज्ञान का फल अद्भुत है। एक समय था विशाल नदियाँ अपनी विनाशकारी बाढ़ से लाखों घर उजाड़ जाती थी। एक तरफ लोग पानी के प्यासे थे तो दूसरी ओर पानी में डूबकर कुछ लोग अपने प्राण खो रहे थे। ज्ञानवान् लोगों ने बड़े-बड़े बांध बनाये। नदियों के पानी को रोक कर नहर निकाली। सूखे खेतों में जीवन आ गया। जहाँ धूल उड़ती थी वहाँ फसलें लहलहा गईं। पानी के वेग से बिजली का निर्माण किया, लोग स्विच् दबाते हैं तो घर प्रकाश से चमचमा जाता है।

जहाँ लोग भूखे थे वहाँ आज घर अनाज से भरे हैं। जहाँ लोग झोंपड़ियों में बसते थे आज वहाँ अच्छे सुन्दर मकान बने हैं। जहाँ लोग सर्दी से ठिठुरते थे वहाँ आज कपड़ों के ढेर लगे हैं।

पर हमने देखा दरिद्रता दूर हो गई। धन-धान्य उपजने लगा। अच्छे सुविधापूर्ण भवन बन गये। पर शांति नहीं हुई। परस्पर स्नेह व सौहार्द नहीं उपजा। जो अधिक चालाक थे उन्होंने कम बुद्धि वालों का शोषण किया। कुछ लोगों के पास अपार ऐश्वर्य इकट्ठा हो गया। ऐश्वर्य पाकर एक तरफ नाना प्रकार के व्यसनविलासों में लोग डूब गये तो दूसरे लोग पीछे रह गये। पिछड़े हुए लोग छटपटा गये। उनमें ईर्ष्या द्वेष की अग्नि भड़क उठी।

निर्धनों ने धनवानों को लूटना आरम्भ किया। चारों तरफ अशांति का स्वर गूंज गया। गरीब भी बेचैन हैं तो धनी भी भयभीत। कुछ लोगों ने कहा यह विकास, यह समृद्धि, यह स्वतन्त्रता किस काम की। इस ज्ञान विज्ञान से क्या लाभ ? लोग समझ नहीं पाये क्या किया जाये। आत्मा को शान्ति देने वाला) चिरतृप्ति देने वाला पुष्टिकारक ज्ञानान्न क्या है ? सुना है परमात्मा ने मनुष्यों को शाश्वत् शांति देने वाला पवित्र ज्ञान वेदों में दिया है। पर वेद का सार पाना हमारे लिए आसान नहीं। किसी ने बताया वेदों का सारतत्त्व महर्षि याज्ञवल्क्य ने समझा था। उसी परम तत्त्व को उन्होंने शतपथ ब्राह्मण में प्रकट किया है। गुरुकुल के प्रख्यात स्नातक महाप्रज्ञ पण्डित बुद्धदेव विद्यामार्तण्ड शतपथ ब्राह्मण के महाविद्वान् हैं। हम उनकी सेवा में उपस्थित हुये। हमने विनय के साथ महाविद्वान् का अभिवादन किया और पूछा हे महामेधाविन ! आत्मा को शांति देने वाला उसका निर्विकार पोषण करने वाला अन्न क्या है ? जिससे आदमी सदा प्रसन्न रहता है सदा-सदा तुष्ट और शांत हो जाता है। हमने ज्ञानियों से सुना है आत्मा का अन्न ज्ञान है। पर हमने देखा बड़े-बड़े पठित लोग भी दुःखी हैं, क्लेश से पीड़ित हैं।

मेधावी विद्वान् ने कहा—भाइयो ! आत्मा का भक्ष्य शुद्ध अन्न क्या है ? जिससे आत्मा निर्विकार पोषण का लाभ करता है। परमतोष और शान्ति को अधिगत करता है। महर्षि याज्ञवल्क्य ने चिरचिन्तन करके वेदों का सार अपने शतपथ ब्राह्मण में प्रकट किया है। महर्षि याज्ञवल्क्य ने आत्मा के विशुद्ध अन्न का उल्लेख शतपथ ब्रह्मण में किया है। हम बोले—हे सुविद्वन् ! हमें उस विशुद्ध आत्मपोषक अन्न का बोध कराओ। अशुद्ध अन्न के सेवन से सारे समाज की आत्मा विकृत हो रही है। अशुद्ध ज्ञानान्न के सेवन का दुष्परिणाम सामने आने लग गया है। निर्धन गरीबी से दुःखी है तो धनी रिश्वतखोरों से पीड़ित हो रहे हैं। सब अपने स्वार्थ में डूब गये हैं। जिसको जहाँ मौका मिला उसने वहीं लूट खसौट मचा रखी है। कुछ युवकों ने अस्त्रशस्त्रों के बल पर लूटना आरम्भ कर दिया, तो कुछ अपनी चालाकी से गरीबों को ठगकर अपना घर भरने में लग गये हैं। चारों तरफ अशान्ति के जहरीले अङ्कुर फूट रहे हैं। हर ओर हा-हाकार मचा है। जिन पूर्ण सुख की कामनाओं से हमने विदेशियों को खदेड़ा और स्वातन्त्र्यलाभ किया वे सब स्वप्न चकनाचूर होते जा रहे हैं।

पण्डितजी बोले—सुनो ! यह सब कुछ आत्मा को शुद्ध अन्न न मिलने का परिणाम है। आत्मा का शुद्ध अन्न यथार्थ ज्ञान है जिससे पोषण पाकर

आत्मा सदा तृप्त रहता है सर्वदा शान्ति लाभ करता है। वह यथार्थ ज्ञान कहाँ से प्राप्त होता है। इसका निर्देश महाविज्ञानी याज्ञवल्क्य ने अपने शतपथ ब्राह्मण में किया है। वे लिखते हैं—

अन्नं वै त्रयी विद्या। अन्नेनैवैनं पृणाति।*

अर्थात्—आत्मा का शुद्ध अन्न त्रयी विद्या है। ऋग् यजु तथा साम इन तीन वेदों का शुद्ध ज्ञान ही त्रयी विद्या है। इस विशुद्धज्ञान का उपदेश स्वयं सर्वज्ञ परमेश्वर ने मनुष्यों के कल्याण के लिये किया था। यह ज्ञान सर्वथा विशुद्ध तथा पूर्ण है। महर्षि याज्ञवल्क्य कहते हैं हे लोगो ! इसी त्रयी विद्या रूप अन्न से ही आत्मा तृप्त होती है सच्चे पोषण को प्राप्त होती है। यह त्रयी विद्या मनुष्य की आत्मा में परहित का पवित्र भाव उत्पन्न करती है। त्रयी विद्या में भौतिक विज्ञान का समग्र बोध जहाँ हैं वहाँ उसका प्रत्येक पद आत्म कल्याण की पवित्र प्रेरणा भी देता है। आत्म कल्याण बोधक शब्द यज्ञ है। जिसका वेदों के पवित्र मन्त्रों में बार बार निर्देश दिया है। यज्ञ शब्द का भाव अति महत्त्वपूर्ण है। सच तो यह है कि तीनों वेदों के ज्ञान का लक्ष्य मनुष्य को यज्ञशील बनाना है। यज्ञ का अर्थ है परहित के साधक शुभकर्मों का मिलकर अनुष्ठान करना। इसी उच्च भाव की प्रेरणा ऋचाएँ देती हैं। यजुर्वेद के वाक्यों का तात्पर्य इसी में है। इसी परहित साधक पवित्र यज्ञकर्म से मनुष्य का परमार्थ सिद्ध होता है। यज्ञकर्म के अनुष्ठान से आत्मा का संस्कार होता है। जहाँ यज्ञभाव है वहाँ लोग सुखशान्ति से अपने चरमलक्ष्य की ओर बढ़ते हैं। वहाँ बली दुर्बल का शोषण नहीं करता। बुद्धिमान् बुद्धिहीनों को नहीं लूटते फिर ईर्ष्याद्वेष और मारकाट का प्रसङ्ग कहाँ। जिस भूखण्ड पर लोगों ने वेदज्ञान को ग्रहण किया, यज्ञ भाव को अपनाया वहाँ स्वर्ग है। देखो यजुर्वेद का वाक्य कितने सुन्दर शब्दों में निर्देश दे रहा है—

स्वर् देवा अगन्मामृता अभूम।**

त्रयी विद्या के पवित्र ज्ञानान्न का सेवन करने वाले मनुष्य नहीं अपितु साक्षाद् देव हैं। वे देवजन परोपकाररूप यज्ञ कर्म का अनुष्ठान करके अन्त में स्वर् लोक को प्राप्त कर लेते हैं। स्वर् नाम है आनन्दपूर्ण ब्रह्म लोक का। वहीं पर आत्मा का सर्वोत्तम विहार है। वहीं सुसुष्ठु (सबसे अच्छी) अर् अर्थात्

---

* मा. श. ९-३-३-१४

** यजुर्वेद—१८-२९

गति है। वही अमृत है। वही आत्मा का परमधाम मोक्ष है। त्रयीविद्यारूप परमान्न का सेवन करने वाले जनों के क्लेश शनैः शनैः क्षीण हो जाते हैं। पापवासना की बन्धनकारी जड़ें सूख जाती हैं। पर धन हरण का लोभ नष्ट हो जाता है। ईर्ष्या द्वेष के अङ्कुर फिर चित्त में नहीं फूटते ऐसे त्रयीविद्या के ज्ञान से सम्पन्न लोगों के समाज में कलह झगड़ों का क्या काम। पर मनुष्य इस महत्त्वपूर्ण आत्मा के अन्न ग्रहण के प्रति सचेष्ट नहीं। वह केवल शरीर के पोषण में लगा है। शारीरिक भोजन पाने के लिये कड़ी से कड़ी मेहनत करता है। हमने एक युवक को देखा। वह पेटविद्या के ग्रहण में दिन-रात लगा रहता था। लोग कहते थे वड़ा परिश्रमी लड़का है। एक दिन यह जरूर वड़ा आफिसर वनेगा। यह भी हमने एक दिन सुना कि सम्पूर्ण विश्वविद्यालय में उस युवक ने प्रथम स्थान प्राप्त किया। हम उस होनहार युवक के पास गये। हमने उससे पूछा तू इतना कठोर परिश्रम क्यों कर रहा है ? युवक ने तुरन्त उत्तर दिया पण्डितजी यह भी कोई पूछने की बात है। विना अच्छे स्थान (Position) के भला नौकरी कैसे मिल सकती है। हमने पुनः प्रश्न किया तुम सर्विस कर के क्या करना चाहते हो। युवक मुस्करा कर बोला पण्डितजी अच्छी नौकरी पाकर में पर्याप्तधन अर्जित करूंगा ठाठ से रहूँगा अच्छी लड़की से मेरी शादी होगी दहेज भी पर्याप्त मिलेगा।

हमने कहा होनहार युवक जीवन का यह कल्याणकारी पथ नहीं। यह लक्ष्य निश्चितरूप से दुःख परिणामी है। तुम्हारा सारा कठोर तप निरर्थक है तुम्हारे तथा तुम्हारे समाज के लिये घातक है। युवक को हमारी बात समझ में नहीं आई। वह बोला पण्डितजी आप प्रत्यक्ष सुखदायी श्रम को विनाशकारी बताकर मेरा अनिष्ट मत करिये। कुछ काल के पश्चात् हम उस युवक के नगर में फिर गये। हमने बड़ी उत्सुकता से उस युवक का समाचार पूछा। लोगों ने वड़े गर्व से कहा पण्डितजी लड़का बड़ा होनहार निकला उसकी नियुक्ति एक विश्वविद्यालय में प्राध्यापक (Lecturer) के रूप में हो गई। हमने पूछा क्या उसकी शादी हो गई ? लोग बोले एक से एक अच्छे परिवार के लोग अपनी सुन्दर लड़की देने को उसे तैयार हैं। पर अभी तक उसे कोई लड़की पसन्द नहीं आई। कुछ वर्षों के पश्चात् हमें पता लगा उस होनहार युवक का हाल वड़ा बुरा है। एक जेल में लम्बी सजा भुक्त रहा है। जांच करने पर पता चला कि एक अच्छे घर की सुयोग्य तथा सुन्दर लड़की से उसका विवाह हो गया था। काफी दहेज भी उसे मिल गया। काफी धन वैभव पाकर युवक दुनियावी सुखों में डूब गया। सुरा और सुन्दरी के प्रत्यक्ष फल का आकर्षण

बढ गया। पत्नी से धन मांग बढती गई। पत्नी ने बहुत समझाया पर बालू से तेल कहाँ निकलने वाला था। पति पत्नी में झगड़ा होने लगा। प्रतिदिन कलह की गर्मी बढ़ने लगी। युवक के लिये यह कथमपि सह्य नहीं था। उसने पत्नी को मार कर नई सुन्दरी तथा दहेज में धन पाने की योजना बनाई। समय पाकर अपनी सङ्गिनी को जहर देकर मार दिया। पत्नी के पिता और भाई मृत्यु के रहस्य को समझ गये। पुलिस को सूचित किया गया। पठित युवक के पाप का रहस्य खुल गया। न्यायाधीश ने २० वर्ष की कठोर कारावास की सजा सुना दी। प्रतिष्ठापूर्ण नौकरी छूट गई। नई सुन्दरी पाने का रेतीला महल ढह गया। दहेज पाने की आशा धूल में मिल गई। कारागार का बड़ा द्वार प्रवेश के लिये खुल गया। कितनी आयु में, केवल २८ वर्ष की थोड़ी आयु में। इसलिए महर्षि याज्ञवल्क्य कहते हैं—ओ संसार के लोगों, केवल शारीरिक भोग के लिये मत जुटे रहो। आत्म संस्कार के लिये, आत्मबल के लिये, आत्मा को पुष्ट करने वाला त्रयीविद्या का ज्ञान रूपी अन्न भी ग्रहण करो। इस आत्मा के अन्न को पाकर व्यक्ति मनोनिग्रह का बल प्राप्त करता है तृष्णाओं को जीत लेता है। इन्द्रियों पर साधिकार हो जाता है। और—

स्वर्हि गच्छति—अमृतो भवति।*

सच्चे सुख को पाता है। अमृत हो जाता है। भोगेच्छा उसे नहीं सताती। पर वैभव उसे आकर्षित नहीं करता। देवकी पुत्र कृष्ण ने इसी सच्चे ज्ञानरूपी अन्न का सेवन किया था। देखने वाले उसे देखकर मुग्ध हो जाते थे। उसका आत्मा सदा प्रसन्न रहता था। शन्ति से उसका मुख कमल सदा खिला रहता था। साधारण लोग सोचते थे पता नहीं कृष्ण को क्या मिल गया। इसका मुख कमल कभी म्लान नहीं देखा गया। यह किसी देश का राजा नहीं। अपने बल से इसने पापी कंस को जरूर मारा पर राजैश्वर्य इसने प्राप्त नहीं किया। मथुरा का राज अपने बूढे नाना को सौंप दिया। चाहता तो स्वयं राजा बन सकता था। पर आत्मा के पोषक अन्नलाभ के लिये विज्ञानी गुरु सन्दीपन के चरणों में पहुँच गया। आश्रम की गौ चराता है। जंगल से लकड़ी लाता है। गरीब ब्राह्मण सुदामा के साथ चने खाकर मुदित है। इसके गुण जगत् गाता है। सारी धरती के राजाओं के बीच वृद्ध भीष्म ने किसी को सबसे पूज्य माना तो देवकीनन्दन कृष्ण को। महाभारत का भयङ्कर युद्ध पाण्डवों ने इसी के बुद्धिवल से जीता। गाण्डीवधारी अर्जुन का सारथी कृष्ण यदि न होता तो

* मा. श. ९-३-३-१४

भला वह क्या भीष्म और द्रोण सरीखे महारथियों को जीत पाता। युद्ध समाप्त हुआ। सम्पूर्ण धरती का चक्रवर्ती सम्राट् किसे बनाया जाये यह चर्चा होने लगी। यदुवंशियों ने विचार किया धरती पर चक्रवर्ती सम्राट बनने के योग्य केवल कृष्ण है। पाण्डु के ज्येष्ठ पुत्र ने तो इन्द्रप्रस्थ के राज्य को द्युत में खो दिया था। स्त्री तक को उस जुवारी ने दाव पर लगा दिया था। भला उसका क्या विश्वास कि वह सम्पूर्ण पृथ्वी पर धर्मपूर्वक शासन करेगा। हमारे नायक कृष्ण सर्वथा निर्दोष हैं। जन्म से लेकर आजतक उनका चरित्र निष्कलङ्क है। फिर युद्ध विद्या में उसका मुकाबला कौन कर सकता। उसकी नीतिनिपुणता अद्‌भुत है। उसकी विनयशीलता विलक्षण है। देखा नहीं युधिष्ठिर के राजसूययाग में कैसे निरभिमान होकर कृष्ण ने ऋषि विप्रों की सेवा का कार्य किया था। विनाशकारी युद्ध से बचाने के लिये कृष्ण ने दूत तक बनने में संकोच न किया। अतः चक्रवर्ती सम्राट् केवल कृष्ण ही बनने योग्य है। यादवों ने साहस करके यह प्रस्ताव कृष्ए के सम्मुख रखा। प्रस्ताव सुनकर कृष्ण का चेहरा आवेश से तमतमा गया। देवकीनन्दन धीर स्वर में बोले—यदुवंशियो! महाविनाशकारी युद्ध मैंने राजा बनने के लिये नहीं लड़ा। लोगों ने देखा, यदुवंशियों ने देखा कृष्ण को विशालपृथिवी का साम्राज्य कुछ आर्कषित नहीं कर सका। पाण्डु पुत्रों में ज्येष्ठ धर्मराज युधिष्ठिर को धरती के सिंहासन पर बैठाया गया, चक्रवर्ती सम्राट् बनाया गया। देवकी पुत्र हाथ जोड़ कर बोले—

राजन् त्वमेव प्रथितां प्रशाधि धर्मेण भूमिं श्रुतिबोधितेन।
राज्यं मदीयं तव पादयोर्हि यदर्जितं तत्तु समर्पयामि ।।*

हे राजन् युधिष्ठिर! अब तू इस विशाल पृथिवी पर वेद के बताये धर्म के अनुसार राज्य कर। मेरा छोटा सा राज्य भी आज तुम्हारे चरणों में समर्पित है। यह त्याग का उदात्त (ऊंचा) विचार कृष्ण की आत्मा में कैसे आया। पण्डितजी ने गम्भीर होकर कहा—भाइयो! यह सब त्रयीविद्या के पवित्र ज्ञान का प्रताप है। चक्रवर्ती सम्राट् का साम्राज्य पतनशील है। महाबली का शरीरबल अन्त में क्षीण होने वाला है। पर आत्मा के पोषक अन्न का सेवनकर्त्ता अक्षीण है। उसका ज्ञानबल अद्‌भुत सुख का जनक है। शतपथ के रचयिता महाविद्वान् याज्ञवल्क्य ने इसी ज्ञानान्न के सेवन को प्रधानता दी है।

---

* महाभारत के भावों के अनुरूप यह श्लोक लेखक का स्वयं का बनाया हुआ है।

यज्ञों में दुही जाने वाली असली गायें तीन वेद हैं। त्रयीविद्या का दोग्धा ही असली होम कर्त्ता है। वेदों का ज्ञानरस ही सच्चा इष् (अन्न) है। इसी ज्ञान-रस का निर्देश भगवान् ने यजुर्वेद के प्रथम मन्त्र में प्रधानता से किया है। योगेश्वर कृष्ण ने वेदत्रयी रूप धेनुओं का दोहन किया था। भाइयो! यदि कल्याण चाहते हो, धरती पर स्वर्ग देखना चाहते हो तो आत्मा को वेदों के पवित्रज्ञान का अन्न दो। वेदरूपी गौओं का सदा दोहन करके अमृतरस का पान करो।

शतपथ के महाविद्वान् इतना कहकर रुक गये। हमारे हाथ श्रद्धा से जुड़ गये। सिर श्रद्धाभार से झुक गया। हमारे मुख से सहसा निकल गया। हे महाप्रज्ञ हम कृतकृत्य हो गये। सच्चे पथ का बोध हो गया। हमें पता लग गया आत्मा के पोषण के बिना शरीर का पोषण मनुष्य को आदमी नहीं दानव बना देगा। आत्मा के पोषण का सच्चा ज्ञानरूपी अन्न केवल वेद के पवित्र मन्त्रों से प्रापणीय है। उस ज्ञान के बिना मानव दुःख से कदापि बच नहीं सकता। हे महाविद्वान् आपको बार बार हमारा प्रणाम हो।

दशम पथ

पाप छाया के समान मनुष्य के पीछे लगा है

सुबह हुई। सूर्य निकला। हमने देखा लम्बी छाया हमारे पीछे खड़ी है। दोपहर होने को आया तो भी छाया पूर्णरूपेण खतम नहीं हुई। पर ज्योंहि सूर्य ढला शाम हुई छाया बढ़ गई। सचमुच छाया सदा पुरुष के पीछे लगी है। कोई महामूर्ख ही इससे अपने को मुक्त समझता होगा। गांव का पाली (पशुचारक) भी जानता है छाया सदा मनुष्य के साथ है। कभी छोटे रूप में तो कभी बड़े रूप में। कभी पैरों के नीचे छिपे रूप में तो कभी सबके सामने आगे या पीछे फैली हुई। एक दिन शिष्यों ने अपने गुरु याज्ञवल्क्य से छाया के विषय में चर्चा छेड़ दी। शिष्य बोले—हे आचार्य देव! क्या पुरुष कभी अपनी छाया से मुक्त हो सकता है। ऋषि ने उत्तर दिया यह कभी सम्भव नहीं। जेब तक देह है तव तक छाया है। शिष्य ने सरल भाव से प्रश्न किया! आचार्यपाद-छाया की उत्पत्ति का कारण क्या है? ऋषि ने कहा—छाया नाम प्रकाश के अभाव का है। जहाँ प्रकाश नहीं वहाँ छाया है। सूर्य की किरणों का रोध होते ही छाया हो जाती है। हमारा शरीर सूर्य की किरणों को जब रोकता है तो हमारी छाया दिखाई देती है। प्रातःकाल में हमारा शरीर अधिक किरणों को रोकता है तो छाया लम्बी होती है। जब मध्याह्न में सूर्य ऊपर आ जाता है तो हमारा शरीर अधिक किरणों को नहीं रोक पाता तो छाया छोटी हो जाती है। पुनः शाम को प्रातः के समान हमारी छाया बढ़ जाती है। शिष्य छाया के स्वरूप को समझ गये। पर याज्ञवल्क्य बोले मेरे प्रिय शिष्यो! छाया के समान ही मनुष्य पाप से जुड़ा है। ज्ञान के प्रकाश का रोध हुआ नहीं कि पाप छाया की तरह बढ़ जाता है। ज्ञान का प्रकाश होने पर छाया के समान पाप वासना सूक्ष्म हो जाती है। जैसे दोपहर के समय सूर्य का प्रकाश हमें चारों तरफ से घेर लेता है तो हम समझते हैं हमारी छाया समाप्त हो गई पर ध्यान से विचार किया तो पता चला छाया हमारे पैरों के नीचे छिपी है। पाप भाव भी ज्ञान प्रकाश होने पर भी छाया

के समान अन्तर मन में छिपे रहते हैं। ज्योंहि ज्ञान प्रकाश मन्द पड़ा त्योंहि ये पापभाव प्रकट हो जाते हैं।

महामुनि वेदव्यास के पिता महर्षि पराशर का नाम तुमने सुना होगा। उनका वेदाभ्यास अद्भुत था। गुरु चरणों में बैठकर पाराशर ने दीर्घकाल तक वेदों का पवित्र ज्ञान पाया था। समग्र वेदाध्ययन के पश्चात् वे तप करने में रत हो गये। पराशर के तप त्याग ब्रह्मचर्य और संयम का यश सूर्य प्रकाश के समान धरती पर फैल गया। सब लोगों ने समझा पराशर ने पापभावों को दग्ध कर डाला। उसकी सब भोग वासनाएँ समाप्त हो गईं। अब संसार का कोई भी आकर्षण पराशर को लुभा नहीं हो सकता। रूप-यौवन सम्पन्न सुन्दरियाँ पराशर के लिए केवल पञ्चभूतों का विकार मात्र हैं। सोना, चाँदी, हीरे, मोती इसके लिए मिट्टी के तुल्य हैं। यमुना के एकान्त शान्त किनारे पर पराशर की साधना कुटि थी। मात्र कोपीन के कुछ भी परिग्रह इन्होंने नहीं रखा था। एक दिन कारणवश उन्हें यमुना पार जाना पड़ गया। तट पर एक अत्यन्त सुन्दर बाला नोका लिए खड़ी थी। वह दाशराज की कन्या थी। धर्मार्थ नोका चलाती थी। पराशर को देखकर दाशराज की कन्या समझ गई कि ब्रह्मचारी यमुना पार जाना चाहते हैं। युवती ने भक्ति भरे वचन से कहा हे महात्मन्! यद्यपि कोई दूसरा यात्री पार जाने वाला नहीं है। पर आपको पार उतार कर मैं अवश्य पुण्यधन अर्जित करूँगी। पराशर नौका में बैठ गये। एकाकिनी (अकेली) सुन्दर युवती को देखकर पराशर के मन में विकार आ गया। रूप सौन्दर्य को देखकर पराशर के अन्तः में छिपी पाप वासना सायंकालीन छाया के समान बढ़ती चली गई। विवेक सूर्य अस्त हो गया। पराशर अपने को रोक नहीं सका। उसी युवती का नाम सत्यवती था। उसी की कोख से व्यास ने कानीन पुत्र (कन्या पुत्र) के रूप में जन्म लिया।

याज्ञवल्क्य के अल्पायु शिष्य पराशर के पतन की कथा को सुनकर स्तब्ध रह गये। एक शिष्य ने साहस करके महर्षि याज्ञवल्क्य से कहा आचार्य देव ऐसे पर कन्या सेवी लम्पट पराशर को ऋषिपद कैसे प्राप्त हो गया। आपभी उसे महर्षि कहते हैं। पराशर तो सामान्य जनों से भी नीचे गिर गया था। महर्षि याज्ञवल्क्य धीरता के साथ बोले—बेटा! यह मनुष्य सदा पापवासना से सम्पृक्त (Attached) है। पापवासना मनुष्य के पीछे सदा छाया की तरह लगी है। ज्ञान के प्रकाश पर आवरण आया नहीं कि पाप छाया झट आगे आ जाती है। यह सच है पराशर ने पाप-वासना की जड़ों को काटने

का महान् तप किया। पर उसने पाप भावों से निर्मूल होने का मिथ्याभिमान कर लिया। इसी मिथ्याभिमान के कारण वह धर्ममर्यादा को भूल गया। उसने शास्त्र वचनों को अनदेखा कर दिया। ब्रह्मचारी के नियमों का उल्लंघन कर दिया और अकेली सुन्दर युवती के साथ नौका में बैठ गया। अपार सौन्दर्य को देख पाप तम का बल बढ़ गया। ज्ञान का प्रकाश पापमेघ से घिर गया। सूर्यास्तवेला के समान पापवासना छाया के समान बढ़ती चली गई। पराशर को रूप सौन्दर्य के आकर्षण ने एक बार मोहित कर लिया। वह अपने धर्म को कुछ क्षणों के लिए भूल गया। अकरणीय दुष्कर्म को कर दिया। पर उसकी अन्तरात्मा में पुनः ज्ञान का प्रकाश हुआ। पाप वासना रूप छाया मिट गई। पराशर को अपनी भूल का अहसास हो गया। उसका मिथ्याभिमान टूट गया। पराशर को अपने संयम और ब्रह्मचर्य पर जो अहङ्कार था वह इस घटना से नष्ट हो गया। उसकी समझ में आ गया पाप-वासनाएँ अन्तर्मन में कैसे छिपी रहती हैं। पराशर ने फिर सारे जीवन अपने मन में मिथ्याहङ्कार को पनपने नहीं दिया। वह सदा सजग रहने लगा। सदा के लिए सावधान हो गया। उसने अपने को आगे पतन के अवसरों से बचा लिया। इसलिए आज लोक यह जानता हुआ भी कि पराशर ने कुमारी कन्या के साथ सङ्ग करके अवैध सन्तान को पैदा किया था, उसका आदर और सम्मान करता है। उसे ऋषि पद से भूषित करता है।

महामुनि पतञ्जलि योगविद्या के महान् ऋषि थे। उन्होंने योग के अतिसूक्ष्म रहस्यों का साक्षात्कार किया था। उन्होंने थोड़े से सूत्रों में योग के सब रहस्य प्रकट कर दिये थे। उनका एक पुत्र था। उसका नाम सौभर था। मुनिराज पतञ्जलि ने सौभरि को स्वयं पढ़ाया। उसे योग के सूक्ष्म तत्त्व समझाये। सब ज्ञान देकर पतञ्जलि मुनि ने पुत्र से कहा बेटा इस संसार के पदार्थों से मनुष्य कभी शान्ति लाभ नहीं कर सकता। यदि शान्ति पाना चाहते हो तो योगसाधना करो। आत्मा तथा परमात्मा का साक्षात्कार करो। ऋषिपुत्र ने पिता के उपदेश को हृदय में धारण किया। ब्रह्मचर्य का नैष्ठिक असिव्रत (अति कठिन प्रण) ले लिया। गंगा के पावन तट पर कुटि बनाई। आत्मसाधना में लग गया। सौभरि की कठोर साधना की कीर्ति चारों तरफ फैल गई। उनका ब्रह्मचर्य तेज बालसूर्य के समान चमक उठा। सभी लोग समझते थे कि सौभरि ने वासना जाल को छिन्न-भिन्न कर दिया। इसके भोग-भावों की जड़ कट गई। अब संसार की कोई वस्तु सौभरि के चित्त को डिगा नहीं सकती। सुन्दर से सुन्दर वस्तु भी इनके मन को अब मोहित नहीं कर

सकती। वर्षों व्यतीत हो गये। सौभरि की साधना अविराम चलती रही। पर अन्तरात्मा में न जाने कितने जन्मों के भोग संस्कार भरे पड़े हैं। उनका दग्धवीज हो जाना आसान नहीं। एक बार वृद्ध मुनि व्यास से वासनाजाल के विषय में जिज्ञासुभक्तों ने जानना चाहा तो उनके मुख से सहसा ये अनुभवपूर्ण विचार प्रकट हुये—

अनादि कर्मक्लेशवासनाचित्रा प्रत्युपस्थितविषयजाला*

अर्थात्—मनुष्य के मन में अनादिकाल से नाना प्रकार की क्लेश देने वाली वासनाओं का जाल विछा है। जब वासनाओं का विषय उपस्थित होता है तो झट प्रकट हो जाती है। उन वासनाओं के सूत्र इतने सूक्ष्म होते हैं कि दूसरे जनों की तो बात छोड़ो स्वयं अपने आप भी मनुष्य नहीं जान पाता कि मेरे मन में कैसी-कैसी बुरी वासनाएँ छिपी हुई है। लोग समझते थे ऋषिपुत्र सौभरि के भोगभाव सर्वथा नष्ट हो गये। उसके वासनाजाल का छेदन हो गया। पर एक दिन आया। साधनाशील सौभरि अपने ध्यान के आसन से उठा। वह गंगा के सत्त्व सम्पन्न तट पर भ्रमण के लिये निकला। उसकी दृष्टि छोटे छोटे बच्चों के साथ क्रीड़ा (खेल) करती मछलियों पर पड़ी। पूर्वजन्म की भोग वासनाओं को विषय मिल गया। सौभरि के विमल मन पर भी वासना की वदली छा गई। ज्ञान प्रकाश का रोध हो गया। मन सोचने लगा मेरे भी बच्चे होते। मधुरवाणी बोलने वाली पत्नी होती। उनका मधु हास्य होता। वासना भाव काले मेघ का रूप धारण कर गये। विवेकसूर्य को भोगभाव के काले बादलों ने घेर लिया। वासना का बल कुछ दिन में असह्य हो गया। विख्यात योगसाधक मार्ग से विचलित हो गया। घर गृहस्थी के विषमचक्र में पड़ गया। संसार के भोग भला क्या शान्ति प्रदान करते। तप ब्रह्मचर्य एवं साधना से वज्रसम शरीर ढीला पड़ गया। पुत्र द्वारा कलत्र कुछ भी तोष नहीं दे सके। बुढापे ने सौभरि को आ घेरा। एक दिन मृत्यु की घड़ी पास आ गई।

सौभरि ने सभी बन्धु बान्धवों को पास बुलाया और कहा भाइयों, मैं एक महान् ऋषि का पुत्र हूँ। वेदशास्त्रों का मैंने अध्ययन किया है। वर्षों योगाभ्यास भी मैंने किया हैं। संसार के सुख दुःख का अनुभव भी मैंने खूब किया है। मेरे जीवन का आज अन्त समय आ गया है। मैं अपने जीवन का अनुभव आप सबको सुना देना चाहता हूँ। लोग बड़ी उत्सुकता से बोले—हे

---

* योगदर्शन—२-१ व्यासभाष्य

ऋषिपुत्र ! हमे अपने जीवन का अनुभव अवश्य सुनाओ। संसार के भोग सद्य (तुरत) सुख प्रद हैं जबकि योगसाधना का फल इन्द्रियों के अनुभव से परे होने के कारण परोक्ष हैं। हम सामान्य जनों की परोक्ष सुख के प्रति सहज प्रवृत्ति नहीं। बहुत से भूतविज्ञान के पक्षपाती परोक्ष सुख की कल्पना को मिथ्या मानते हैं। वे सब सुखों को भौतिक संसार में ही खोजने का विचार देते हैं। पर सब कुछ होने पर भी मनुष्य तुष्ट नहीं हो पाता। उसकी भोगेच्छा बढती जाती है। वह बढी हुई इच्छा उसे क्लेशित करती रहती है। हे ऋषिपुत्र ! आप हमें बताईये आपके विचार में कौन सा सच्चे कल्याण का, शाश्वत शान्ति का सुपथ है।

सौभरि ने कहा सुनो और ऋषिपुत्र के मुख से यह अनुभव सिद्ध श्लोक निकला—

आमृत्यतो नैव मनोरथानामन्तोऽस्ति विज्ञातमिदं मयाद्य।
मनोरथासक्तिः परस्य चित्तं न जायेत वै परमार्थसङ्गी ॥*

अर्थात्—मृत्यु पर्यन्त भी मन की इच्छा का अन्त नहीं आता। जिन पुत्र कलत्र आदि को हम सुख हेतु समझते हैं। वे अन्त में साथ नहीं देते। जिन सुख भोगों के लिये हम श्रम करते हैं वे सुखभोग अन्त में दुःख के अटल कारण ही सिद्ध होते हैं। ऋषिपुत्र सौभरि के इस सारवान् वचन को सुनकर लोग स्तब्ध रह गये, सोच में पड़ गये। तभी महाविज्ञानी कपिल मुनि वहाँ पहुँचे। उन्होंने लोगों से पूछा भाइयों क्या बात है ? क्यों तुम सहमे हुये खड़े हो ? लोग बोले महामुने ! ये महर्षि पतञ्जलि के इकलौते बेटे सौभरि थे। आज ये प्राण त्याग कर परलोक गमन कर गये। महामुनि कपिल बोले अहो ! हमने इनके दर्शन एक बार गंगा तीर पर किये थे। ये तो बहुत बड़े योग के साधक थे। इनकी मृत्यु यहाँ कैसे ? लोगों ने महामुनि को सौभरि की समस्त जीवन कथा सुनाई। कपिलमुनि ने कहा भद्रो ! क्या सौभरि ने अपने अन्तिम समय में कुछ कहा। लोग बोले मुनिराज सौभरि ने अन्त समय पर हमें अपने पास बुलाया और अपने जीवन का सार एक श्लोक में सुनाया। महामुनि कपिल सब वृत्तान्त सुनकर कुछ देर मौन हो गये और अपने दर्शन का एक सूत्र उन्होंने बना दिया—

न भोगाद रागशन्ति र्मुनिवत् ।**

* विष्णुपुराण ४-२-११९
** सांख्यदर्शन ४-२७

अर्थात्—भोग भोगने से कभी भी राग (भोगेच्छा) शान्त नहीं होता। जैसे सौभरि मुनि को नहीं हुआ। सौभरि ने सोचा था संसार का सुख वैभव होने पर जीवन में सरसता होगी, सन्तुष्टि होगी पर सब सरसता और सन्तुष्टि क्षणिक सिद्ध हुई। इसलिये ऋषि भोग वासना रूप पाप से बचने के लिये उपदेश देते हैं। वेद के मन्त्र अध्यात्म की बार बार प्रेरणा देते हैं। कुछ जन सोचते हैं हमारी पाप वासनाएँ नष्ट हो गईं। हमारा मन सध गया। अब हमारा पतन नहीं हो सकता। ऐसे मिथ्याभिमानी व्यक्ति ही दूसरे के पतन पर हँसते हैं उनका अनादर और मजाक उड़ाते हैं। तिरस्कार तक कर डालते हैं। पर उन्हें पता नहीं कि पाप वासना से अछूता कोई नहीं। इस रहस्य को बुद्धिमान् जन जानते हैं। इसलिये वे किसी का तिरस्कार नहीं करते। किसी का उपहास नहीं करते। वे समझते हैं पाप के कारणभूत भाव हमारी आत्मा में भी छिपे बैठे हैं। यदि उन्हें अवसर मिला तो हमें भी कुकर्मों में प्रवृत्त कर देंगे।

इसलिये वे मर्यादाओं का सदा ध्यान रखते हैं। पर स्त्री का संसर्ग तो दूर रहा वे आंखों से भी उन्हें देखने की त्रुटि नहीं करते। सुमित्रा पुत्र लक्ष्मण वर्षों अपने भाई श्रीराम के साथ जंगल में रहे। उनके साथ रूपयौवनसम्पन्ना श्री राम की धर्मपत्नी सीता भी थी। लक्ष्मण ने कभी ऊपर मुख उठाकर वैदेही को नहीं देखा। महर्षि वाल्मीकि ने रामायण में स्पष्ट लिखा हैं कि जब सीता हरण हो गया तो राम लक्ष्मण सीता की खोज में ऋष्यमूक पर्वत पर आये। वहाँ सुग्रीव हनुमान् के साथ रहता था। श्री राम की उनके साथ मित्रता हो गई। श्रीराम ने सुग्रीव से अपनी धर्मपत्नी की हरण कथा सुनाई तो सुग्रीव ने कुछ आभूषण दिखाये। सुग्रीव ने कहा दशरथ पुत्र श्रीराम आकाश मार्ग से जाती हुई किसी देवी ने ये आभूषण गिराये थे। श्रीराम ने लक्ष्मण से कहा भैया पहचानो क्या ये आभूषण विदेहराज की पुत्री के हैं। तब लक्ष्मण ने कहा भैया मैं देवी सीता के मुख के आभूषण और कुण्डल नहीं जानता।

मैंने कभी विदेहराज की पुत्री का मुख नहीं देखा मैं अभिवादन के समय उनके केवल चरण देखता था। लक्ष्मण ने देवी सीता का मुख क्यों नहीं देखा ? क्योंकि गुरुवसिष्ठ के चरणों में बैठकर उसने समझ लिया था कि पाप वासना छाया के समान मनुष्य के पीछे लगी है। पाप की वासना आत्मा में छिपी बैठी है। उसे अवसर मिला नहीं कि उसके अंकुर फूट पड़ते हैं। तब

मनुष्य अकार्य को करके पापी हो जाता है। व्रती लक्ष्मण ने वासना बेल को बढने का अवसर नहीं दिया। यही कारण है लक्ष्मण १४ वर्ष के पश्चात् निष्कलङ्क अयोध्या में प्रवेश करता है।

प्रिय शिष्यो ! समझदार व्यक्ति कभी अहङ्कार नहीं करता। वह जानता है—

छाययेव वा अयं पुरुषः पाप्मनाऽनुषक्तः*

अर्थात्—यह पुरुष छाया के समान पापवासनाओं से जुड़ा है। जिसने अहङ्कार करके मर्यादाओं का उल्लङ्घन किया उसका पतन अवश्य होता है। पापवासनाएँ निश्चितरूप से उसे कुकर्म में प्रवृत्त कर देती हैं। ऋषिगण जरायर्यन्त (बुढापे तक) सदा सावधान रहते हैं। वे मर्यादाओं का सदा पालन करते हैं। वे मनुष्यों को सदा यही सीख देते हैं। देखो प्राचीन ऋषियों का यह मन्तव्य हमने अपने शतपथ ब्राह्मण में अनेकवार प्रकट किया है—

अन्तरिक्षं वा अनु रक्षश्चरत्यमूलम्**

ओ संसार के लोगों जीवन आकाश में आगे पीछे नीच कर्मों में प्रवृत्त कराने वाले राक्षसभाव घूम रहे हैं। इन नीच भावों की कोई जड़ नहीं जिसको तुम काट सको और निश्चिन्त होकर संसार में विहार कर सको। इन नीचभावों से बचने के लिये प्रतिपल सजग रहने की आवश्यकता है। इन नीचभावों को दवा देने का केवल एक उपाय है। अन्धेरे को, छाया को दूर करने का केवल एक ही उपाय है प्रकाश। सूर्य का प्रकाश बढ़ा नहीं कि छाया घटी नहीं। उसी प्रकार ज्ञान का पवित्र प्रकाश ही राक्षसभावों का नाशक है। इसलिये ऋषिगण सदा कहते आये हैं—

ब्रह्मणै वैतदन्तरिक्षमभयमनाष्ट्रं कुरुते।***

अर्थात्—मन्त्रज्ञान के द्वारा ही बुद्धिमान व्यक्ति इन नाशकारी नीच-भावों को खत्म करके अपने जीवन को निर्भय करते हैं। मन्त्रों के पवित्र ज्ञान का प्रकाश मन्द पड़ा नहीं कि नाशकारी राक्षसभाव बढे नहीं। तब मनुष्य मर्यादाओं को तोड़कर पापकर्म करने में प्रवृत्त हो जाता है। उसका पतन

---

* मा. श. २-२-३-१०
** मा. श. १-१-२-४
***मा. श. १-१-२-४

अवश्यम्भावी है। उसका विनाश अटल है। ऋषि इतना कहकर शान्त हो गये। शिष्य बोले—आचार्यपाद! आपने ज्ञान का प्रकाश कर दिया। आज हमारी समझ में आ गया कि वृद्ध मुनि जन भी नगर ग्राम से दूर एकान्त में वास क्यों करते हैं। वे जरावस्था में भी कठिन मर्यादाओं का पालन क्यों करते हैं। वे क्षीणदेह होने पर भी सदा सजग क्यों रहते हैं। चिरसाधक होने पर भी पतन से क्यों डरते हैं। सचमुच अपने संयम और ब्रह्मचर्य का अहङ्कार करना निरर्थक ही नहीं अपितु पतन का कारण है। हमें सदा पाप-वासना को छाया के समान आगे पीछे लगी हुई समझना चाहिये। उससे पीछे लगे शत्रु के समान सदा सावधान रहना चाहिये।

ऋषि बोले-मेरे पुत्रो! तुम ठीक समझ गये। याद रखो कितने भी बड़े हो जाओ कितनी भी ऊँची साधना तक पहुँच जाओ फिर भी कभी अपने को पापवासना से निर्मुक्त मत समझना। सर्वथा निष्पाप होने का मिथ्या अहङ्कार मत करना।

शिष्य विनय पूर्वक बोले—युक्तम् (ठीक है)।

ओ३म्

प्राच्यविद्यानुसन्धान केन्द्र की
वैदिक वाङ्मय के विज्ञान प्रकाशन की

अतिमहत्त्वपूर्ण योजना

वेद के ऋषि प्रज्ञा द्वारा प्रकट अर्थ जितने विस्तार से ब्राह्मण-ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं, उतने अन्य ग्रन्थों में नहीं। वस्तुतः ब्राह्मण-ग्रन्थ वेद के साक्षात् व्याख्यान-ग्रन्थ हैं। अब तक भी ब्राह्मण-ग्रन्थों का समीचीन व्याख्यान आर्यभाषा (हिन्दी) में नहीं किया जा सका। कुछ अनधिकृत विद्वानों ने ब्राह्मणकार ऋषियों के मन्तव्य के सर्वथा विपरीत व्याख्यान कर दिये जिससे इन ऋषिग्रन्थों के प्रति विद्वानों में अनास्था भाव दृष्टिगोचर होता है। गुरुकुल कांगड़ी के मेधावी स्नातक पण्डित बुद्धदेव विद्यालङ्कार ने श्रम करके कुछ यथार्थ अभिप्राय प्रकाशित करने का स्तुत्य प्रयास किया था। अब यह महान् कार्य प्रतिभावान् विद्वानों की प्रतीक्षा कर रहा है। श्री डा. वेदपालजी इस कार्य में संलग्न हैं। केन्द्र एक-दो विद्वानों को उनके सहयोग के लिये नियुक्त करना चाहता है, जिससे ब्राह्मण वाङ्मय की सही भाव विद्वानों के समक्ष आ सके। केन्द्र का दृढ़ निश्चय है कि इस महत्त्वपूर्ण कार्य को वह प्राथमिकता के आधार पर पूर्ण कराके प्रकाशित करेगा। वेदभक्त सज्जनों से इस पवित्र कार्य में सहयोग की अपेक्षा केन्द्र करता है। जो सज्जन एक हजार रुपये एक साथ देकर केन्द्र के सहयोगी सदस्य बनेंगे, उन्हें केन्द्र के ये सब ग्रन्थ भेंट किये जाएंगे तथा पांच हजार रुपये से अधिक धन इस पवित्र कार्य में अर्पित करने वाले दानी महानुभावों का परिचय भी प्रकाश्यमान ग्रन्थों में दिया जायेगा।

निवेदक

विशुद्धानन्द आर्यरत्न
अध्यक्ष

धर्मवीर विद्यावारिधि
महानिदेशक

प्राच्यविद्यानुसन्धान केन्द्र : एक परिचय

प्राच्यविद्यानुसन्धान केन्द्र गत चार वर्ष से आर्ष ग्रन्थों पर अनुसन्धान, प्रकाशन, पठनपाठन एवं प्रचार प्रचार के कार्य में संलग्न है। केन्द्र ने पुष्कर (राजस्थान) की घाटी में एकान्त शान्त स्थान पर वैदिक विद्याओं के अनुसन्धान एवं वैदिक विद्वान् तैयार करने के लिये पाणिनिधाम की स्थापना की है। वेद के ऋषि प्रज्ञा से प्रोक्त शतपथादि ब्राह्मण ग्रन्थों के अधिकारी विद्वान् डा. वेदपालजी सुनीथ ने अपना समर्पण केन्द्र के लिये कर दिया है। वे पाणिनिधाम में ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुशीलन एवं भाष्य करने में संलग्न हैं। केन्द्र द्रुतगति से आगे बढ़ रहा है। केन्द्र की इस प्रगति में अनेकानेक महानुभावों का सहयोग मिलता रहा। उन सबका केन्द्र हृदय से अभिवन्दन करता है।

संरक्षक—

(१) पूज्यपाद स्वामी सर्वानन्दजी महाराज, दयानन्द मठ, दीनानगर।

पूज्य स्वामीजी महाराज केन्द्र के उद्देश्य तथा कार्यों की प्रगति को देखकर अतिप्रसन्न हुये तथा अपना हार्दिक आशीर्वाद (पांच सौ रुपये प्रदान करते हुये) प्रदान किया। केन्द्र द्वारा अनुरोध करने पर श्री स्वामीजी महाराज ने केन्द्र का संरक्षक पद स्वीकार करने का भी अनुग्रह किया।

(२) श्री चौधरी हनुमान् प्रसादजी (उदयपुर) : आप श्री युत ने, ऋषि प्रोक्त शतपथादि ग्रन्थों के प्रकाशनार्थ अपने चौधरी चैरिटेबल फाउण्डेशन ट्रस्ट से पूर्ण सहयोग प्रदान करने की घोषणा की तथा १६ हजार रु. प्रथमानुदान के रूप में प्रदान किये। ऐसे उदार श्री सम्पन्न एवं उच्चशिक्षा प्राप्त महानुभाव को केन्द्र अपना संरक्षक बनाकर गौरवान्वित हो रहा है।

(३) श्री सत्यनारायणजी लाहोटी, सुजानगढ़ : आप श्री युत ने पाणिनिधाम के भवन निर्माण हेतु २५ हजार रुपये देने का आश्वासन प्रदान किया है तथा समय समय पर सहयोग करते रहते हैं।

जिनका आशीर्वाद सदा प्राप्त रहता है—

(१) पूज्य श्री स्वामी ओमानन्दजी महाराज

(२) पूज्य श्री स्वामी दीक्षानन्दजी

(३) महात्मा यज्ञमुनिजी, आर्यसमाज, सागरपुर

(४) स्वामी विजयानन्दजी, आर्ष कन्या गुरुकुल चित्तौड़

परामर्शदाता पूज्य विद्वान्—

(१) पण्डितवर्य युधिष्ठिर मीमांसक
(२) आचार्य विजयपालजी विद्यावारिधि (बहालगढ़)
(३) श्री आचार्य हरिदेवजी (वेदविद्यालय दिल्ली)
(४) श्री प्रो. धर्मवीरजी, अजमेर
(५) श्री प. मदनमोहनजी शास्त्री, अजमेर
(६) श्री डा. विजयपालजी प्रचेता, जयपुर
(७) श्री डा. कृष्णपालजी, अजमेर
(८) श्री रामस्वरूपजी रक्षक, अजमेर

सहयोगी सदस्य—

(१) श्री भगवान् सहायजी, अजमेर
(२) श्री विष्णुप्रकाशजी, अजमेर
(३) श्री भरतकुमारजी एम. ए.
(४) श्री प्रो. राजपालजी एम. ए. पी-एच. डी (हरियणा)
(५) श्री धर्मेन्द्रजी रिसर्च स्कालर (दिल्ली)
(६) श्री धूमकेतुजी, दिल्ली
(७) स्त्री आर्यसमाज आदर्श नगर, जयपुर
(८) श्री रामशरणदासजी, दिल्ली
(९) श्री रामकरणजी (कडेल), अजमेर
(१०) श्री ओमप्रकाशजी झंवर, ब्यावर
(११) श्री रामकृष्णजी रावत, अजमेर
(१२) श्री सोमदत्तजी, जयपुर

केन्द्र सभी वेद एवं ऋषिभक्तजनों से प्रार्थना करता है कि वे अपने सामर्थ्यानुसार केन्द्र को अपना सहयोग प्रदान करें जिससे केन्द्र अधिक से अधिक वेद एवं आर्ष ज्ञान का प्रकाश करने में कृतकारी हो सके।

निवेदक

विशुद्धानन्द आर्यरत्न (बदायूं)
(अध्यक्ष)

धर्मवीर विद्यावारिधि
(महानिदेशक)

चैक वा ड्राफ्ट-निम्न पते पर भेजें :

पाणिनिधाम तिलोरा (पुष्कर घाटी)

ग्रा. पो. तिलोरा (जिला अजमेर)-३०५०२२
(राजस्थान)

प्राच्यविद्यानुसन्धान केन्द्र के प्रकाशित एवं प्रकाश्यमान ग्रन्थ

(१) **वैदिक निघन्टु संग्रह (प्रकाशित)**

कौतसंव्य, यास्कीय, भास्करीय (श्लोकबद्ध) तथा माधवीयाख्यातानुक्रमणी नामानुक्रमणी के सहित आचार्य श्री धर्मवीर विद्यावारिधि द्वारा अति श्रमेण सम्पादित अनेक पाद टिप्पणियों से युक्त, ग्रन्थचतुष्टयीपदानुक्रमणी से समवेत प्रत्येक वैदिक अनुसन्धाता के लिये उपयोगी। पृष्ठ संख्या ३८० सुन्दर जिल्द, मूल्य १००-०० रु.।

(२) **पाणिनीय व्याकरण विषयक शोध प्रबन्ध संग्रह (प्रकाशित)**
पृष्ठ ४५, मूल्य ५ रु.।

(३) **शतपथ ब्राह्मण और गौ**—पृष्ठ संख्या ५०, मूल्य ५ रु.।

शतपथ ब्राह्मण के अधिकारी विद्वान् डॉ. वेदपाल सुनीथ द्वारा शतपथ प्रवक्ता महर्षि याज्ञवल्क्य का गो विषयक सही मन्तव्य प्रकाशित, गो हिंसा तथा मांस भक्षण परक व्याख्यानों का युक्ति युक्त प्रत्याख्यान एवं युक्त अर्थ [illegible] :सर प्रकाश किया गया है।

[illegible] पूर्णमासेष्टि रहस्य प्रकाश—पृष्ठ संख्या ५० मूल्य ७ रु.। अमा- [illegible] पूर्णमासी के दिन अनुष्ठातव्य इष्टियों का वास्तविक उद्देश [illegible] सुनीथ ने शतपथादि ब्राह्मण ग्रन्थों के आधार पर प्रकट किया [illegible]

[illegible] वेद शिक्षा संग्रह—(शीघ्र प्रकाश्यमान) वेदों के अनेक शिक्ष[illegible] [illegible]र्तमान हैं। आचार्य धर्मवीर विद्यावारिधि ने श्रमपूर्व[illegible] [illegible]ना पुस्तकालयों में से किया तथा उनके समीचीन [illegible] ग्रन्थ इसी वर्ष प्रकाशित करने की योजना है।

[illegible]पथादि [illegible] [illegible]—[illegible]श्य) श[illegible]